

बाहुबलि
तथा
बादामी
शालुक्क्य

मूल अंग्रेजी लेखक
प्रो. हं.प. नागराजय्य

अनुवाद
प्रो. प्रतिभा मुदलियार



RELIEF OF BAHUBALI →
JAINA CAVE, BADAMI (LATE SIXTH CENTURY)

बाहुबलि तथा बादामी चालुक्य

मूल अंग्रेजी लेखक

प्रो. हंप. नागराजय्य

अनुवाद

प्रो. प्रतिभा मुदलियार



छत, जैन गुफा, ऐहोळे
बाहुबलि तथा बादामी चालुक्य : प्रो. हंप. नागराजय्य

अनुवादक : प्रो. प्रतिभा मुदलियार
प्रथम आवृत्ति, मार्च 2014
© : लेखक
मूल्य : 250

प्रकाशक
राष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन तथा अनुसंधान संस्था
श्रवणबेळगोळ - 573135
जिला हासन, कर्नाटक

मद्रण

SREEMAN PRINTEX
405/'H', 9th 'H' Main, Vijayanagar, Bangalore-560 040.
Ph: 080-2330 0660

आशिर्वचन

अंतिम श्रुतकेवलि ने चंद्रगुप्त मौर्य तथा उनके 700 लोगों के साथ जब ई. पू. तीसरी सदी में श्रवणबेळगोळ में कदम रखा तभी यह स्थान पवित्र हुआ और तब से श्रवणबेळगोळ जैन मुनि तथा साध्वियों और जैन संस्कृति का प्रतीक बना हुआ है। विभिन्न पुरालेखों के आधार पर यह कहना उचित ही होगा कि श्रवणबेळगाळ जैन तथा भारतीय इतिहास का विशाल भंडार है।

चामुंड राय (ई.स. 981) द्वारा दोड्ड बेट्टा (जिसे विंध्यगिरी भी कहा जाता है) के शिखर पर गोमट की 58.8 फूट लंबी विशालकाय प्रतिमा की स्थापना की गई जिससे कर्नाटक में एक स्वर्णिम अध्याय ही जैसे खुल गया। छठी सदी के अंतिम दो ढाई दशकों में दक्षिण में बाहुबलि की शिल्पकला तथा कला का प्रारंभ करनेवालों में बादामी के चालुक्य प्रथम थे। उसी प्रकार आदिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर, कुष्मांडिनीदेवि, ज्वालामालिनी देवि, पद्मावतिदेवि, धरणेन्द्र तथा श्याम आदि के शिल्पों का परिचय करानेवाले प्रथम शासक वे ही थे। उसी के साथ साथ गंग, राष्ट्रकुट, होयसळ तथा विजयनगर के शासक भी जिन तथा अन्य देवताओं की प्रतिमाओं का निर्माण करने के लिए प्रेरित हुए।

हमारे सुझाव पर हंपना जी ने कई ऐतिहासिक तथा साहित्यिक महत्व की पुस्तकें लिखीं। वर्तमान पुस्तक शिलालेखों तथा क्षेत्रकार्य पर आधारित एक अनुसंधनात्मक पुस्तक है। जैन प्रतिमाओं पर विशेष जोर देते हुए बाहुबलि तथा बादामी चालुक्य का इतिहास लिखकर, एक लेखक, इतिहासकार तथा अनुसंधाता के रूप में उन्होंने विद्वानों की आकाशगंगा में अपना एक दृढ़ स्थान कायम किया है। इसी के साथ यह पुस्तक कर्नाटक के विभिन्न भागों पर अपना शासन करने वाले इस साम्राज्य में जैन धर्म के विकास एवं विस्तार का सर्वेक्षण प्रस्तुत करती है। साम्राज्य में प्राचीन अवशेष प्रचुर मात्रा में फैले थे जो कि भारत के सांस्कृतिक इतिहास के निर्माण में अनिवार्य है। ऐहोळे को जैन कला का 800 वर्ष का अठूट इतिहास है। हमारे सुझाव पर प्रो. हंप. नागराज्जय जी ने ऐतिहासिक तथा साहित्य के महत्व की कई पुस्तकें लिखी हैं। उक्त पुस्तक लेखक द्वारा किए गए अनुसंधान तथा क्षेत्र कार्य की अप्रतिम पुस्तक है। प्रो. प्रतिभा मुदलियार, मैसूर विश्वविद्यालय, मानसगंगोत्री, मैसूर, ने उक्त पुस्तक का अत्यंत सुंदर अनुवाद किया है। यह पुस्तक उनकी मेहनत, लगन, श्रद्धा और प्रेम का ही फल है। मेरी शुभकामनाएँ सतत उनके साथ हैं और मेरा आशिर्वाद हमेशा उनपर बना रहेगा।

मैं प्रो. हंप. नागराज्जय जी को बधाई देता हूँ तथा आशा करता हूँ कि पाठक उक्त पुस्तक का प्रसन्नता से स्वागत करेंगे।

स्वस्ति श्री कर्मयोगी
श्री चारुकीर्ति भट्टारक पट्टाचार्य स्वामीजी
श्री क्षेत्र श्रवणबेळगोळ

प्रस्तावना

बादामी उपनाम वातापी चालुक्यों के अध्ययन पर काफी सारा अनुसंधान हो रहा है और अब तक स्तरीय तथा विपुल अध्ययन भी किया गया है। तथापि, इन सारे अध्ययनों में बादामी चालुक्यों के संदर्भ में विशेषतः जैनधर्म का स्थान भले ही उपेक्षित ना किया गया हो किंतु यह अध्ययन अधूरा, अस्पष्ट रहा है। उसपर समीचीन रूप से विचार नहीं हो पाया है।

अबतक, जैनधर्म में चालुक्यों के योगदान पर विशेष ध्यान केंद्रित नहीं किया गया। व्यवस्थित अध्ययन के अभाव का कारण पर्याप्त सामग्री की कमी नहीं है अपितु शिलालेखिय, शिल्पगत तथा साहित्यिक प्रमाण प्रचूर मात्रा में उपलब्ध हैं। वास्तव में जैन शिल्पकला तथा संस्कृति के कुछ घटक इन्हीं पूर्वी चालुक्यों के नाभी केंद्र में स्थिर हुए हैं जिसने कला की प्रामाणिकता की मुहर तथा निर्ग्रथो के पंथ को वहन कर उसे ज्ञानदार तथा तेजी से संवर्धित घनिभूत किया है।

शाही चालुक्यों को साम्राज्य के साथ निर्ग्रथो के स्थान को अद्यतन बनाना तथा चालुक्यों के इतिहास में जैनधर्म को उचित स्थान

तथा परिप्रेक्ष्य देना अभीष्ट था। प्रस्तुत पुस्तक जैनधर्म के समयोचित अवधि का प्रामाणिक समीक्षात्मक इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयास है।

प्रस्तुत पुस्तक पुरालेखिय स्रोतों, शिल्पकलागत साक्ष्यों तथा विशद क्षेत्र-कार्य तथा साहित्यिक परंपराओं पर आधारित है जो इन प्राथमिक परिप्रेक्ष्यों पर केंद्रित है तथा पहले की कमी को पूरा करती है। इस प्रक्रिया में अबतक उपेक्षित सूचनाओं, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक अज्ञात स्रोतों को प्रकाश में लाया गया है। उक्त पुस्तक तत्कालीन कला, शिल्पकला, पुरातत्व, शिल्प संरचना, धार्मिक विचार तथा सामाजिक राजनीतिक तथा आर्थिक इतिहास के इर्द गिर्द ही घूमती है।

हालांकि मैंने कुछ प्राथमिक पुस्तकें लिखकर स्पष्टरूप से परिभाषित तथा सुनियोजित योजना द्वारा विभिन्न शाही साम्राज्यों के संदर्भ में उपलब्ध समकालीन जैन रिकार्डों को वर्गीकृत करने का प्रयास किया है। अबतक इस धारा में मेरे पहले के ग्रंथ जैसे पूर्वी गंग, परवर्ती गंग, राष्ट्रकूट तथा बोलते हुए विक्रमादित्य (षष्ठ) आदि पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। उक्त पुस्तक जैसा कि ऊपर कहा गया है, वातापी के शाही चालुक्यों के शासनकाल में जैनधर्म का स्थान निर्धारित करनेवाली इतिहास की पुस्तक है। मेरी यह पुस्तक इतिहासकार तथा मंदिर शिल्पकला विशेषज्ञ दोनों के लिए अनुपूरक हो सकती है किंतु पहले के विद्वानों में अपनी पहचान नहीं बना सकती। इस पुस्तक में जो सामग्री मैंने जोड़ी है तथा जिनका विचार किया जा रहा है वह पहली बार ही है।

जैनधर्म (उसके उद्भव तथा कर्नाटक में उसके प्रवेश तक) भारतीय समाज को निर्माण करनेवाली प्रमुख शक्तियों में से एक है। इतना ही नहीं भारतीय समाज का कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं जो जैनधर्म से प्रभावित नहीं हुआ हो। मूर्तिकला, कला, शिल्पकला, दर्शन, साहित्य तथा संस्कृति आदि में जैन परंपरा प्रचुर तथा विभिन्नता लिए हुए है। चालुक्य जैनधर्म के प्रति कितने उत्साहित थे इसका प्रमाण है उनके उत्कीर्णित लेख तथा वर्तमान भव्य दिव्य स्मारक। राज्य ने जैनधर्म को कितनी उदारता प्रदान की इसकी गवाह है मेरी प्रकाशित पुस्तकें।

अतः इस पुस्तक का प्रमुख उद्देश्य निर्ग्रंथ पंथ का लक्षण, उनका स्थान, उनकी उत्पत्ति तथा इतिहास लेखकों का रिकार्ड देना रहा है जो इस युग में प्रचलित था। इसके महत्वपूर्ण स्रोत है तत्कालीन पुरालेख, वास्तुशिल्पों के अवशेष तथा संपोषक साहित्य। इसमें ऐसा कोई प्रयास नहीं किया गया है कि धर्मों के मध्य न्याय किया जाय, बल्कि मुख्य उद्देश्य तथ्यों की प्रस्तुति है न कि बहस। अतः

जैनधर्म या वास्तुशिल्प के विवरण को पारिभाषिक शब्दों से बोझिल न बनाकर मैंने जैनधर्म तथा चालुक्य, जो एक दूसरे के समांतर चलते हैं और एक दूसरे के पूरक हैं, का इतिहास चित्रित किया है। बहुत सारी नयी तथा ताज़ा जानकारी इस जैन तथा राजनीतिक इतिहास की पुस्तक में जोड़ी गयी है। विश्वास रखें कि यह संक्षिप्त प्रस्तावना ऐतिहासिक कार्य के केंद्र को ही रेखांकित करती है।

महामहिम कर्मयोगी स्वस्ति श्री चारुकीर्ति भट्टारक पठार्य स्वामी जी लेखक, एक विद्वान संत तथा धर्मवैधानिक साहित्य में सिद्धहस्त श्रवणबेळगोळ आश्रम के श्रद्धेय भट्टारक हैं। विद्वान भट्टारक कला, साहित्य, शिल्पकला तथा संस्कृति के संरक्षक हैं। पूज्य भट्टारक जी ने इससे पहले भी मेरी अनुसंधानात्मक पुस्तकें छापी हैं। इस पुस्तक का महत्व समझकर उन्होंने इसे छापने में खुशी से सहमति दी तथा इसके प्रकाशन के गुणवत्ता पर भी विशेष जोर दिया। कई समितियों तथा आश्रम के कामों में व्यस्त होने के बावजूद उन्होंने उक्त पुस्तक गहराई से पढ़ी तथा पुस्तक के लिए आशिर्वाचन स्वरूप मुझे आशिष दिया। अतः मैं परमपूज्य स्वस्ति श्री चारुकीर्ति भट्टारक जी के प्रति अपनी गहन श्रद्धा, भक्ति तथा आदर ज्ञापित करने में हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ।

परमपूज्य सिद्धान्त चक्रवर्ती श्वेतपिच्चाचार्य श्री विद्यानंद मुनिराज जी को अपनी पुस्तक समर्पित करने में मुझे धन्यता की अनुभूति हो रही है। शिमोगा में 1962-63 में मैं पहली बार उनसे मिला वह स्मृति आज भी मेरे मनःपटल पर उज्ज्वल तथा ताजी है। हम दोनों होम्बुज मठ से जुड़े वर्धमान विद्यार्थी निलयम में कुछ समय साथ रहा करते थे। पूज्यश्री अपनी दीक्षा ले रहे थे और मैं एक कॉलेज में प्रवक्ता था। हम दोनों रोज मिलते और दोनों समान रुचि के विषय पर चर्चा करते थे और फिर शाम के समय गंभीर विषयों पर चर्चा करते हुए पैदल घूमने निकल जाया करते थे। स्वामी जी युवा, सुंदर तथा उत्साह से भरे थे। उनका ज्ञान इतना विस्तृत था कि भाषा, संस्कृति तथा धर्म आदि को समा लेता था। शिमोगा के कुलीन तथा उच्च लोग मुझे पुछा करते थे कि, 'स्वामी विवेकानंद की तरह दिखनेवाले ये तेजस्वी स्वामी कौन है?' इस प्रकार शिमोगा में उनका ठहराव छोटा सा ही सही पर शिमोगा शहर के सांस्कृतिक लोकाचार पर अपनी छाप छोड़ गया तथा मुझे गंभीर विषयों पर अनुसंधान करने के लिए प्रेरित कर गया। पूज्यश्री से बेलगाँव, श्रवणबेळगोळ, धर्मस्थळ तथा नई दिल्ली में मिलने का मुझे पुनः अवसर मिला। सुविख्यात प्रो. पद्मनाभ जैनी तथा क्रिष्टि एन. विलि जी के साथ उनसे मिलने की

स्मृति आज भी मुझे आनंदित कर देती है। 2012 में पूज्य विद्यानंद जी महाराज का 50 वाँ मुनि दीक्षा समरोह और उनसे मिलने का 50 वाँ वर्ष होना मेरे लिए एक दुर्लभ संयोग ही था। साथ ही पुनः यह एक सुखद आश्चर्य था कि श्वेताचार्य मुनिमहाराज ने मुझे 29-07-2012 में 'चारित्र चक्रवर्ती प्रशस्ति' तथा 'एक लाख रुपए के नकद पुरस्कार' से नवाजा। मेरी प्रार्थना है कि मुनिमहाराज मेरी यह पुस्तक मेरी उनके प्रति गहन श्रद्धा तथा आदर समझ कर स्वीकारे और मुझे आशिर्वाद दें।

विदुषी मित्र प्रो. बी. वाय. ललिताम्बा जी, जिनसे मैं गत पचास वर्ष से परिचित हूँ मेरी पुस्तकों का हिंदी अनुवाद कराने में मेरी सहायता करती आ रही हैं।

विदुषी मित्र प्रो. प्रतिभा मुदलियार, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर ने मेरी इस पुस्तक का अंग्रेजी से हिंदी में अनुवाद किया है। उक्त पुस्तक का अनुवाद मौलिक बनाने के लिए उन्होंने काफी प्रयत्न किये हैं। वास्तव में अपनी व्यस्तता के बावजूद उन्होंने उक्त पुस्तक के अनुवाद की विभिन्न समस्याओं पर मेरे साथ विचार विमर्श किया है और इस पुस्तक के अनुवाद में अपनी विशेष रुचि, उत्सुकता और विद्वत्ता दिखाई है।

डॉ. जोडट्टी जी, अवकाश प्राप्त हिंदी शिक्षक, ने उक्त पुस्तक का अवलोकन जैनधर्म के परिप्रेक्ष्य में किया है। उन्होंने परम पूज्य कर्मयोगी स्वस्ति श्री चारुकीर्ति भट्टारक जी के सुझावों तथा मार्गदर्शन का अनुपालन किया है। इसके लिए उन्होंने बेलगाँव से श्रवणबेळगोळ तथा मैसूर की बार बार यात्रा की हैं।

श्री प्रकाश, श्रीमान प्रीटेक्स, विजयनगर, बेंगलूर तथा उनके संकाय ने इस पुस्तक को सुंदरता से छापने में अपना विशेष सहयोग दिया है।

अंत में, मैं उपर्युक्त सभी व्यक्तियों के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ तथा हृदय से अपने आभार प्रकट करता हूँ।

धन्यवाद

प्रो. हंप. नागराज्जय (हंपना)

अपनी बात

लगभग दो वर्ष पहले प्रो. ललिताम्बा जी का फोन आया था। उन्होंने कहा था कि आदरणीय प्रो. नागराजय्य (हंपना) जी चाहते हैं कि मैं उनकी अंग्रेजी पुस्तक “Bahubali and Badami Chalukyas” का हिंदी अनुवाद करूँ। निश्चित ही मेरे लिए यह अभिमान की बात थी कि कर्नाटक के एक प्रख्यात लेखक चाहते हैं कि मैं उनकी पुस्तक का अनुवाद करूँ। किंतु मैंने अबतक केवल साहित्य की पुस्तकों का अनुवाद किया था। इसलिए हाँ कहने में मुझे हिचकिचाहट हो रही थी। मैंने अपनी बात प्रो. नागराजय्य (हंपना) जी से कही। पर उन्होंने यही कहा कि इस पुस्तक में इतिहास, साहित्य तथा भाषा विज्ञान सबका समावेश है। फिर भी मैंने चाहा कि पहले पुस्तक देखूँ और हंपना जी ने अपनी पुत्री के हाथों पुस्तक भेज दी और मैंने पुस्तक के कुछ पन्ने पढ़ डाले और कुछ पन्नों का अनुवाद भी किया। मैं स्वयं अनुवाद करते समय खुश हो रही थी। प्रारंभ के दो अध्यायों का अनुवाद कर हंपना जी को भेज दिया। उनको अनुवाद बहुत अच्छा लगा।

उक्त पुस्तक का अनुवाद करते समय कठिनाइयाँ तो आयीं पर उसका निवारण भी हुआ। कई बार हंपना जी से फोन पर बात कर या फिर कभी उनसे मिलकर मैंने अपनी कठिनाइयाँ बताईं उन्होंने उनका निवारण भी किया। इतना ही नहीं अंतिम चरण में तो वे मेरे घर आए और हमने सिलसिलेवार अनुवाद को देखा और उसे अंतिम

रूप दिया। इस आयु में भी उन्होंने दिन में लगातार चार चार घंटे बैठकर मेरी शंकाओं का निरसन किया और अंततः यह कार्य पूर्ण हुआ।

जैन धर्म तथा चालुक्य साम्राज्य पर आधारित उक्त पुस्तक कर्नाटक के इतिहास में अपना एक महत्वपूर्ण अध्याय जोड़ती है। चालुक्यों ने छठी सदी से लेकर आठवीं सदी के मध्य तक बादामी में रहकर शासन किया और पूरे दक्षिण में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की, जबकि बाहुबलि का कर्नाटक के इतिहास में अद्वितीय स्थान है। विशेष अनुपात में बनी बाहुबलि की प्रतिमाएँ केवल यहीं मिलती हैं। बाहुबलि का केवल धार्मिक महत्व ही नहीं है बल्कि साहित्यिक महत्व भी है। दो महान कवियों के महाकाव्यों के वे चरित नायक थे। पहला संस्कृत कवि जिनसेनाचार्य लिखित पूर्वपुराण तो दूसरा कन्नड भाषा के दरबारी कवि पंप लिखित आदिपुराण। वास्तव में बाहुबलि कर्नाटक में गोम्मट के नाम से जाने जाते हैं, जो कि दिगंबर जैन धर्म में विशेष लोकप्रिय थे। इसी पर आधारित बाहुबलि तथा बादामी चालुक्य इस पुस्तक में नागराजय्य (हंपना) जी ने बाहुबलि के प्राचीन उपलब्ध शिल्प, जैन शिल्पकला तथा कर्नाटक के शाही शासक बादामी के चालुक्यों का इतिहास दर्ज किया है।

मैं हंपना जी के प्रति आभार व्यक्त करना चाहूँगी कि उन्होंने विश्वास के साथ मेरे हाथ में अपनी पुस्तक सौंपी। सर, आभारी हूँ।

उक्त पुस्तक के अनुवाद की प्रेरणास्त्रोत प्रो. ललिताम्बा के प्रति भी मैं आभारी हूँ जिनके कारण मैं हंपना जी से सृजनात्मक स्तर पर जुड़ पायी हूँ।

एक अन्य महत्वपूर्ण व्यक्ति जिनके प्रति आभार व्यक्त करना चाहूँगी वे हैं बेलगाँव के श्री जोडट्टी जिन्होंने पांडुलिपि को सूक्ष्मता के साथ पढा है और आवश्यक जगहों पर सुधार किए हैं जिससे इस पुस्तक को एक परिपूर्णता प्राप्त हुई है। सर, मैं आपके प्रति अपने आभारी हूँ।

मूल अंग्रेजी में लिखी इस पुस्तक का हिंदी अनुवाद सुधी पाठकों के समक्ष रखने में प्रसन्नता हो रही है।

इति नमस्कारान्ते।

डॉ. प्रतिभा मुदलियार

प्रोफेसर, हिंदी अध्ययन विभाग,

मैसूर विश्वविद्यालय, मानसगंगोत्री मैसूर-६

परिविडि

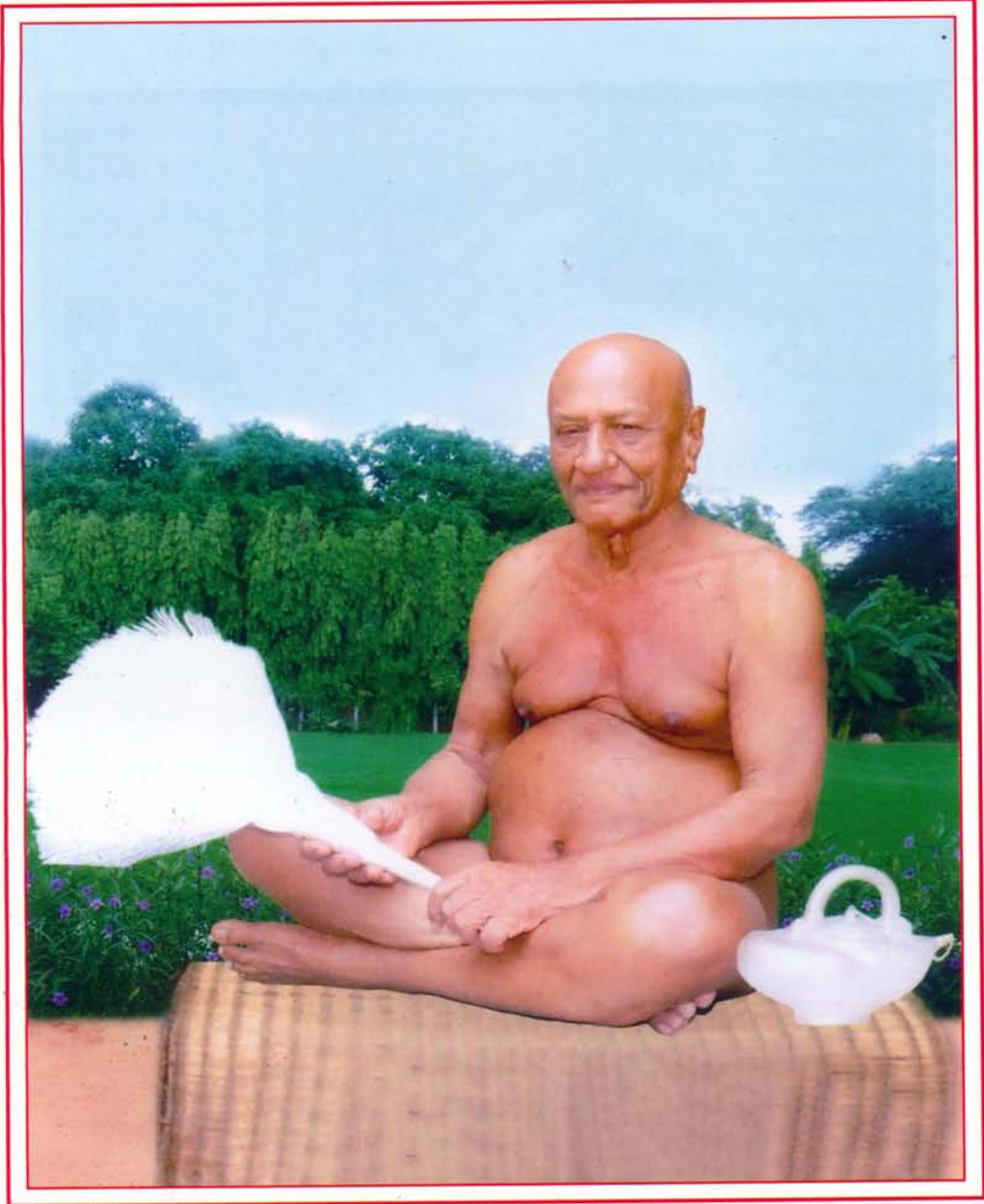
प्रथम अध्याय		
साम्राज्य युग का उदय	...	१
द्वितीय अध्याय		
आरंभ के शासक	...	७
तृतीय अध्याय		
नंतर के शासक	...	१७
अध्याय चार		
सामंतशाही	...	२८
अध्याय पान्च		
वर्णमय जैन संघ	...	५२
अध्याय - छः		
जैन शिल्पकला	...	८३
अध्याय सात		
जैन-शिल्पकला भाग-आ	...	१११
अध्याय आठ		
शिला निर्मित जिनमंदिर	...	१३३
अध्याय नौ		
साहित्य	...	१६१
अध्याय दस		
उपसंहार	...	१७६

प्रो. नागराजय्य हंपना

परिचय

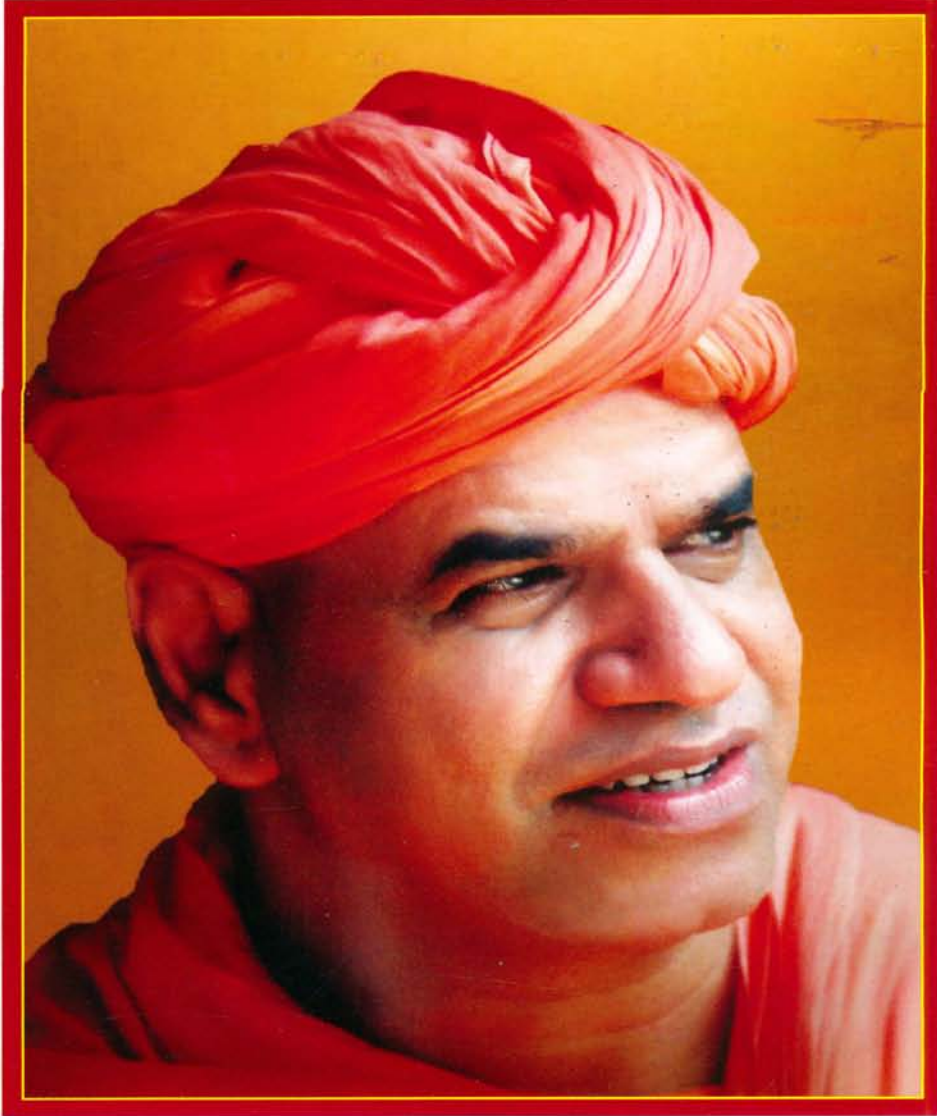
कर्नाटक के प्रमुख साहित्यकार प्रो. नागराजय्या हंपा जी ने कन्नड तथा अंग्रेजी में 80 से भी अधिक पुस्तकें लिखी हैं। वे गत पाँच दशकों से लेखन कर्म में रत हैं। अपने लेखन में उन्होंने विभिन्न विषयों तथा अनुसंधान का समावेश किया है। उनकी कुछ पुस्तकों का अंग्रेजी, हिंदी, मराठी, तमिल, तेलगु, मलयालम, गुजराती, राजस्थानी तथा ओरिया आदि भाषाओं में अनुवाद हुआ है। उन्होंने 37 वर्ष से भी अधिक स्नातक तथा स्नातकोत्तर विभागों में अध्यापन का कार्य किया है। उन्होंने कन्नड साहित्य परिषद, कर्नाटक की महत्वपूर्ण संस्था के आठ वर्ष तक सचिव तथा आठ वर्ष अध्यक्ष के रूप में कार्य किया है। उनको राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित किया गया है। स्थानीय साहित्यकारों ने मिलकर पाँच अभिनंदन ग्रथों से उनको सम्मानित किया है। कर्नाटक में उनका संबोधन “नाडोज हंपना” इस रूप में किया जाता है। कारण उनको कर्नाटक के अत्यंत प्रसिद्ध पुरस्कार “Jewel of Jain World” और “नाडोज पुरस्कार” से सम्मानित किया गया है।

प्रो. नागराजय्य हंपना ने राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय कांग्रेस, सांगोष्ठियों में अपने अनुसंधानात्मक आलेख प्रस्तुत किए हैं। साथ ही विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा आयोजित वार्षिक तथा संस्थापन दिन व्याख्यान माला में व्याख्यान भी दिए हैं। विशेषकर जैनधर्म-अध्ययन में उनका योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण तथा लाभदायक है।



समर्पण

मुनि दीक्षा के स्वर्ण जयंति समारोह के उपलक्ष्य में
परमपूज्य आचार्य श्री
श्री विद्यानंद मुनि महाराज जी के
पवित्र चरणों में सादर समर्पित



स्वस्ति श्री कर्मयोगी
श्री चारुकीर्ति भट्टारक पट्टाचार्य स्वामीजी
श्री क्षेत्र श्रवणबेळगोळ

परिचय

प्रतिभा मुदलियार

जन्म तिथि - 8-12-1959

अर्हता- एम.ए., पीएच.डी, डी,लिट., डिप्लोमा इन ट्रांसलेशन

पुरस्कार- राष्ट्रीय पुरस्कार, नई दिल्ली (नाच री घुमा? मराठी से हिंदी में अनूदित आत्मकथा), सारस्वत सम्मान, ईलाहाबाद, हिंदी मार्तंड, ईलाहाबाद, वीरांगना सावित्रीबाई फूले सम्मान, दिल्ली.

प्रकाशित पुस्तकें

नाच री घुमा (मराठी आत्मकथा का अनुवाद), नरेश मेहता के काव्य का अनुशीलन (समीक्षा), नदी संगे वाहताना (कन्नड कविताओं का मराठी अनुवाद), क्षण हवे नको ते (हिंदी उपन्यास का मराठी अनुवाद), खंड खंड अग्नि (हिंदी खंडकाव्य का मराठी अनुवाद), लेख और आलेख (समीक्षा), हाशिए पर (स्वरचित कविता संग्रह), हिंदी वार्तालाप (विदेशी छात्रों के लिए व्यावहारिक हिंदी पर पुस्तक), हिंदी पत्रकारिता, अपार साई की अपूर्व गाथा (साई बाबा पर आधारित मराठी उपन्यास का हिंदी अनुवाद--- .यंत्रस्थ),

संपादित- कविता तरंग, साहित्य सोपान, कविता-कहानी कलश

कई राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों में भाषण तथा आलेख प्रस्तुति
हांकुक युनिवर्सिटी ऑफ फोरेन स्टडिज, साउथ कोरिया में वर्ष 2005 से 2008 तक अतिथि प्रोफेसर के रूप में कार्यरत

संप्रति- प्रोफेसर, हिंदी अध्ययन विभाग, मैसूर विश्वविद्यालय,
मानसंगोत्रि मैसूर.

1. बादामी में स्थित प्राचीन किले का परिदृश्य
2. बादामी के विशाल खाई में स्थित प्राचीन अगस्त्य तीर्थ
3. आधुनिक बादामी शहर का दृश्य
4. पहाडी के पीछे से मंदिरों का दृश्य, बादामी
5. छठी सदी की एक महत्वपूर्ण जैन गुफा (गुफा लूळ) सामान्य दृश्य, बादामी
6. बादामी की विथिका (गुफा IV) में स्थित छठी सदी की कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानस्थ अर्हत पार्श्व का विद्यमान शिल्प
7. कायोत्सर्ग मुद्रा में बैठे बाहुबली का प्राचीन विद्यमान शिल्प, विथिका (गुफा IV), छठी सदी, बादामी
8. द्वार का नीचला भाग, देहलीज, कटघरा, चंद्रशिला (अश्वपाद), छठी सदी का उत्तरार्ध, (गुफा IV), बादामी.
9. जैन पार्श्व का करीबी दृश्य, विथिका (गुफा IV), बादामी,
10. बाहुबली का करीबी दृश्य, विथिका (गुफा IV), बादामी,
11. परिकरों समेत अन्य विविध के साथ ध्यानस्थ बाहुबली का पूर्ण दृश्य ।
12. गर्भगृह में प्रतिष्ठापित पद्मासन में आसनस्थ जिन, जैन गुफा, ऐहोळे.
13. जैन गुफा, का बाहरी दृश्य, जिसे मीम बसदी भी कहा जाता है, छठी सदी का उत्तरार्ध, ऐहोळे.
14. अप्सराओं के साथ कायोत्सर्ग मुद्रा में आसनस्थ बाहुबली, जैन गुफा, छठी सदी का उत्तरार्ध, ऐहोळे.
15. पाँच फनोंवाले छत्र समेत बाहुबली, बगल में पद्मावती जिसने ठत्र पकड़ा है, और धरण उसके पार्श्व में खड़ा है। और बायीं ओर अंजलिहस्त उठाये

ग्लानी से बैठा कमठ, विथिका जैन गुफा, ऐहोळे (बाबुबली तथा अर्हत पार्श्व दोनों के शिल्प बादामी से एक या दो दशक पूर्व के हैं।

16. द्वार शाखा तथा उत्तरांग, मुख्य गर्भगृह का दृश्य, जैन गुफा, छठी सदी का अंतिम दशक.
17. मिथुन, छत, जैन गुफा, ऐहोळे
18. मंडप की जमीन तथा छत के मध्य में बनी अप्रतिम कलाकारी, जैन गुफा, ऐहोळे
19. (जिन के शिंश पर) एक विशाल अधोमुखी कमल की कलि समेत छत्र-त्रय तथा बायीं ओर मुकुट युक्त यक्ष, बादामी.
20. आसन्सथ जिन के दायीं ओर चाम्रधारी यक्ष,जिसने एक भारी चामर धारण किया है, ऐहोळे.
21. गर्भगृह में स्थित एकअद्वितीय जिन फलक तथा शासनदेवता धरणेन्द्र का प्राचीन विद्यमान शिल्प जिसके सिर पर एक सुंदर पाँच फनोंवाला छत्र है, छठी सदी, जैन गुफा, ऐहोळे.
22. द्वारपाल, जैन गुफा, ऐहोळे
23. सिंहाकृति, शिल्पगत स्तंभ कला, ऐहोळे
24. मिथुन, जैन गुफा, ऐहोळे.
25. स्तंभ का विस्तारपूर्ण विवरण, जैन गुफा, आईडोले
26. परिकर का खंडित शिल्प, ऐहोळे, म्युजियम.
27. उचित अनुपातयुक्त, कमल में आसन्सथ जिन का धडा कंधे पर बने ट्रेसंस यह प्रतिमा ऋषभ (आदिनाथ) की होने क संकेत देती है। ऐहोळे, म्युजियम.
28. जिन प्रतिमा की एक अन्य भग्न प्रतिमा, आहोले म्युजियम
29. और एक जिन की विकृत प्रतिमा, ऐहोळे म्युजियम.
30. ऐहोळे जिनेन्द्रभवन, मेगुडी के परिसर में स्थित एक प्राचीन विद्यमान स्वतंत्र निषिधि.
31. भग्न जिन जिसकी छाति पर श्रीवस्त का चिह्न है, भाल्कि, (बीदर, जिला)
32. श्रीवाह यक्ष का धडा संभवतः सबसे प्राचीन किंतु विद्यमान शिल्प, 7 वीं सदी,गधि केशवार, (गुलबर्गा जिला)
33. प्राचीन विद्यमान पद्मावतीदेवी का शिल्प, छठी सदी, गुंडापुर, बनवासी।

34. अंबिका अपने वैशिष्ट्यपूर्ण धम्मिल्ला के साथ, अलंकृत लटों तथा केशों के साथ, भाल्कि.
35. तीर्थंकर की अद्वितीय प्रतिमा जिसका हाल में पुलिगेरे में पता लगाया गया है। और ऐसा माना जाता है कि यह आनेसेज्जया बसदी की मुलनायक की प्रतिमा है जिसे 8 वीं सदी में राजकुमारी कुमकुम द्वारा बनवाया गया था।
36. प्राचीन विद्यमान स्वतंत्र पार्श्वनाथ पाँच फनों वाले छत्र की प्रतिमा, 8 वीं सदी, मल्लसमुद्र, (गदग जिला)
37. हाल ही में खोजी गई जिन की प्रतिमा, पुलिगेरे, गदग म्युजियम.
38. पुनर्निर्मित लजैन मंदिर, पुलिगेरे, (लक्ष्मेश्वर)
39. अपनी प्रभूता से युक्त अंबिका, होम्बुज (शिमोगा- जिला)
40. जिन पार्श्व की प्रतिमा, सातवीं सदी का उत्तरार्ध तथा 8 वीं सदी का पूर्वार्ध, गधि केशवार (गुलबर्गा- जिला)
41. पार्श्व, पद्मावती, धरणेन्द्र तथा कमठ, कलगुमलाइ, (तमिलनाडु) 8 वीं सदी (सौजन्य-शिवराममूर्ति, जैन कला क चित्रमाला)
42. ऋषभ की अद्वितीय प्रतिमा (आदिनाथ) छठी सदी के अंतिम दो दशक, गुंडापुर, बनवासी।

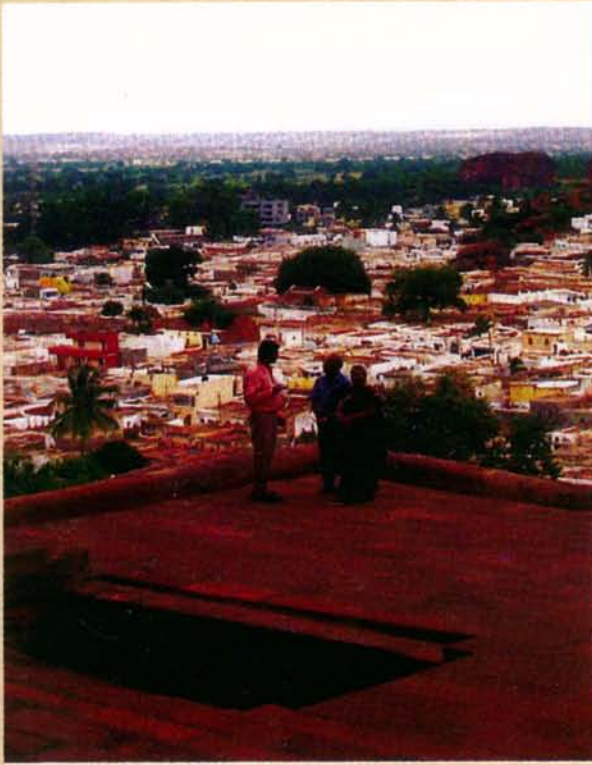
□



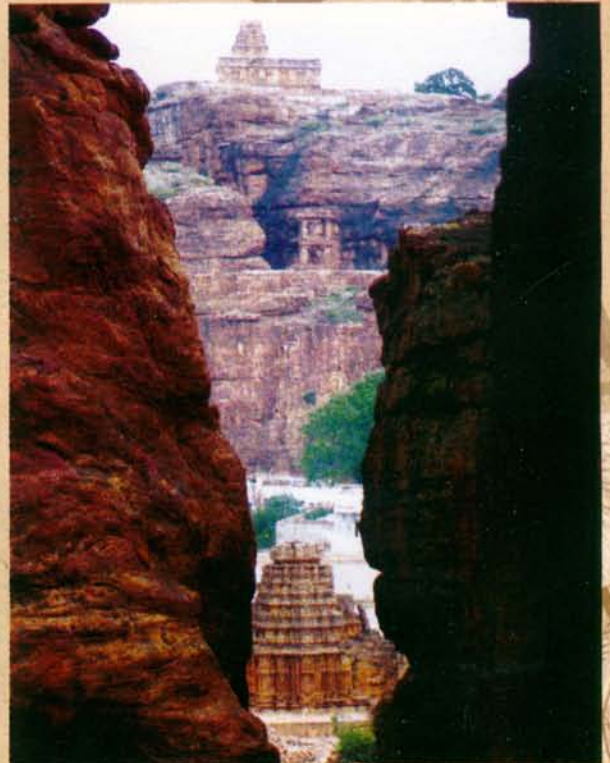
1



2



3



4





6



7



8



9



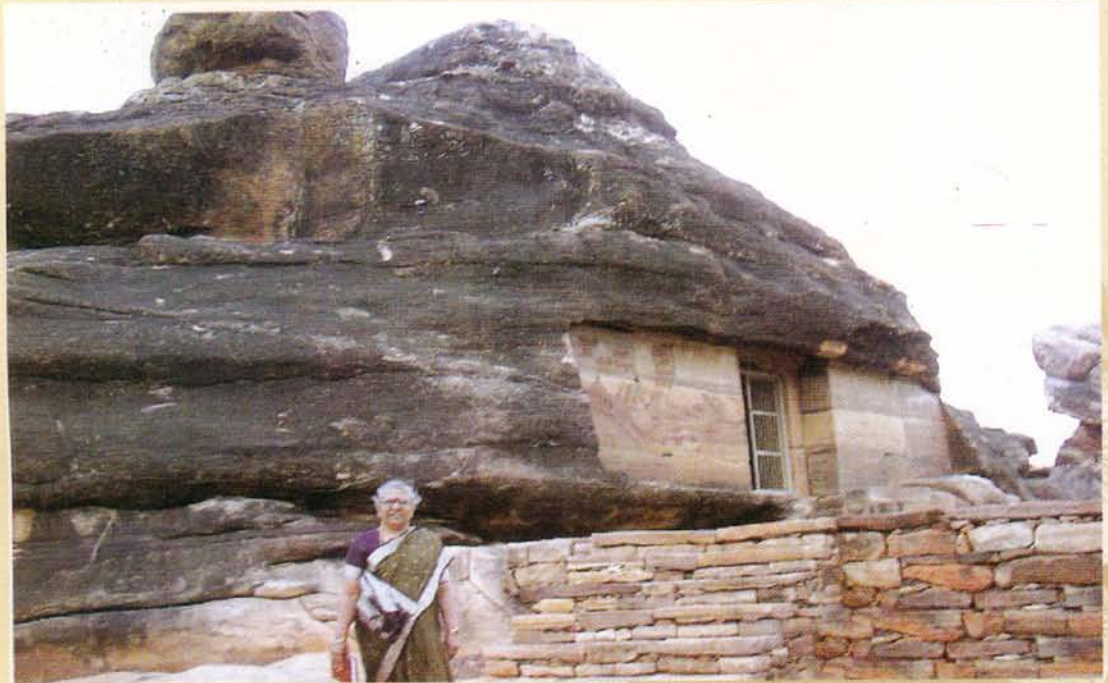
10



11



12



13



14



15



16



17



18



19



20



21



22



23



24



25



26



27



28



29



30



31



32



33



34



35







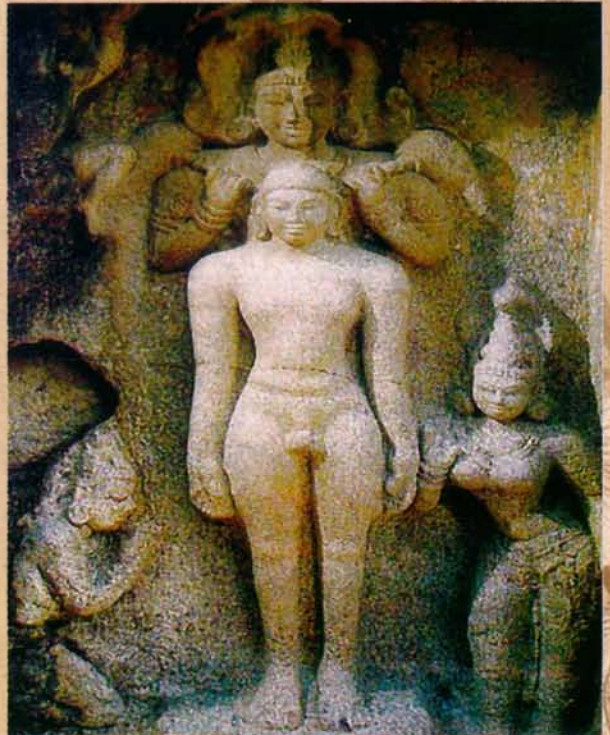
38







41



42



प्रथम अध्याय

साम्राज्य युग का उदय

छठी सदी के मध्य से लगभग दो सौ वर्षों से भी अधिक कालावधि के दौरान, दक्षिण का इतिहास वास्तव में वातापी के चालुक्य, काचि के पल्लव तथा मदुर के पांडुर्यों की सत्ताशक्तियों के डावांडोल होते राजवंशों की संघर्ष गाथा ही है। दक्षिण भारत के तीन प्रभूसत्ता संपन्न राज्यों में प्रमुख रूप से चालुक्यों की सत्ता, महान सत्ता के रूप में उदित हुई। बादामी के प्रमुख घरानों के अलावा चालुक्यों ने अन्य दो भिन्न शाखाओं की खोज की। एक शाखा थी लाट के चालुक्यों की तो दूसरी शाखा थी वेंगी चालुक्य अर्थात् पूर्वी चालुक्य।

कदंबों के युग (345-540) के अंत के साथ-साथ एक और महान राजवंश के बीज पड़े जिससे एक नए युग के उदय का मार्ग प्रशस्त हुआ। बादामी तथा वातापी के चालुक्यों ने (540-750) अवसरों का खात्मा कर अपने खुद के युग का शुभारंभ किया, जिससे दक्षिण के धार्मिक-राजनीतिक तथा सामाजिक सांस्कृतिक संस्कारों की आत्मा का स्वरूप ही बदल गया। राजनीतिक परिस्थितियाँ इसकी गवाह देती हैं कि किसप्रकार आत्मतुष्ट वैयक्तिकता के प्रतिस्पर्धात्मक आधिपत्य में परिवर्तन होकर उसका कायापलट हुआ था। उदीयमान

महान चालुक्यों ने, जिनका पूर्व तथा पश्चिम पर पहले से ही प्रभुत्व था, और जिन्हें निष्ठावान सेवकों का साथ था, रातोंरात राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियों का पुनर्गठन किया। दक्षिण के स्वर्ग की मेहराब पर एक नया ध्रुवतारा उदित हो रहा था, जिसने दक्षिण भारत के राजनीतिक नक्शे का नव-निर्माण किया। कदंबों के उत्तराधिकारी चालुक्य ही दक्षिण के सांस्कृतिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों की कायापलट के उत्तराधिकारी थे। दक्षिण पश्चिम बादामी पर कदंब शासन कर रहे थे, जो कि बाद में चालुक्यों का केंद्र स्थान बना।

छठी सदी के मध्य बनवासी के कदंबों से राज्य छीनकर बादामी के चालुक्य परम राजसी राजवंश के रूप में उदित हुए। उन्होंने बड़ी सफलता से उत्तर में नर्मदा तथा दक्षिण में कावेरी नदी के मध्य आनेवाले विशाल भू-भाग पर अपना शासन जमाया। आंध्र-प्रदेश के अनंतपुर, गुंटूर, कर्नूल, तथा वेलूर जिले तथा पश्चिम के अरबी समुद्र का खाड़ी प्रदेश चालुक्यों का भौगोलिक सीमा क्षेत्र था। ऐहोळे, बादामी, किसूवोळल (पट्टदकल) तथा पुलिगेरे (लक्ष्मेश्वर) उनका केंद्रस्थान था। वराह चालुक्यों का राज-चिह्न था। उल्लेखनीय है कि जैन परंपरा के तेरहवें तीर्थंकर विमलनाथ का राज-चिह्न भी वराह था, तो चौदहवें तीर्थंकर अनंतनाथ का भालू (सेही) था।

इस राजवंश के पूर्वजों में राजसिंह परिवार के प्रथम जनक थे। जिनका संबंध राष्ट्रकूटों के राजा कृष्ण के पुत्र इंद्र से था। विद्वानों ने राष्ट्रकूटों के उद्गम स्थल का भी पता लगाया है और वह है, महाराष्ट्र के उस्मानाबाद जिले में स्थित लातूर शहर। लातूर की व्युत्पत्ति रटनुर अर्थात् रट्टों के शहर, से मानी जाती है। राष्ट्रकूटों का लातूर से संबंध की जानकारी उस समय में उपलब्ध शिलालेखों से प्राप्त होती है। मानपुर राष्ट्रकूट प्राचीन परिवार है जो अपनी राजधानी मानपुर (महाराष्ट्र-सातारा) से शासन किया करते थे। मानपुर यह नाम भी उक्त राजवंश के संवर्धक मानांक के नाम पर ही दिया गया है। दक्षिण महाराष्ट्र के कोल्हापुर, पूणे, सातारा, सोलापुर और उत्तर कर्नाटक का विजापुर जिला आदि उनके अधीन थे। उन्होंने चौथी से छठी सदी तक शासन किया। मानपुर राष्ट्रकूटों का पतन ही चालुक्यों के उदय का कारण बना। मानपुर के राजा अभिमन्यु (470-90) के मातहत जयसिंह ने कृष्ण (490-510) के पुत्र इंद्र (510-30) को पराजित किया और मानपुर के राष्ट्रकूटों से उनकी सत्ता छीन ली। देज्ज महाराज (530-50) जयसिंह के प्रपौत्र पुलकेशि प्रथम के समकालीन थे।

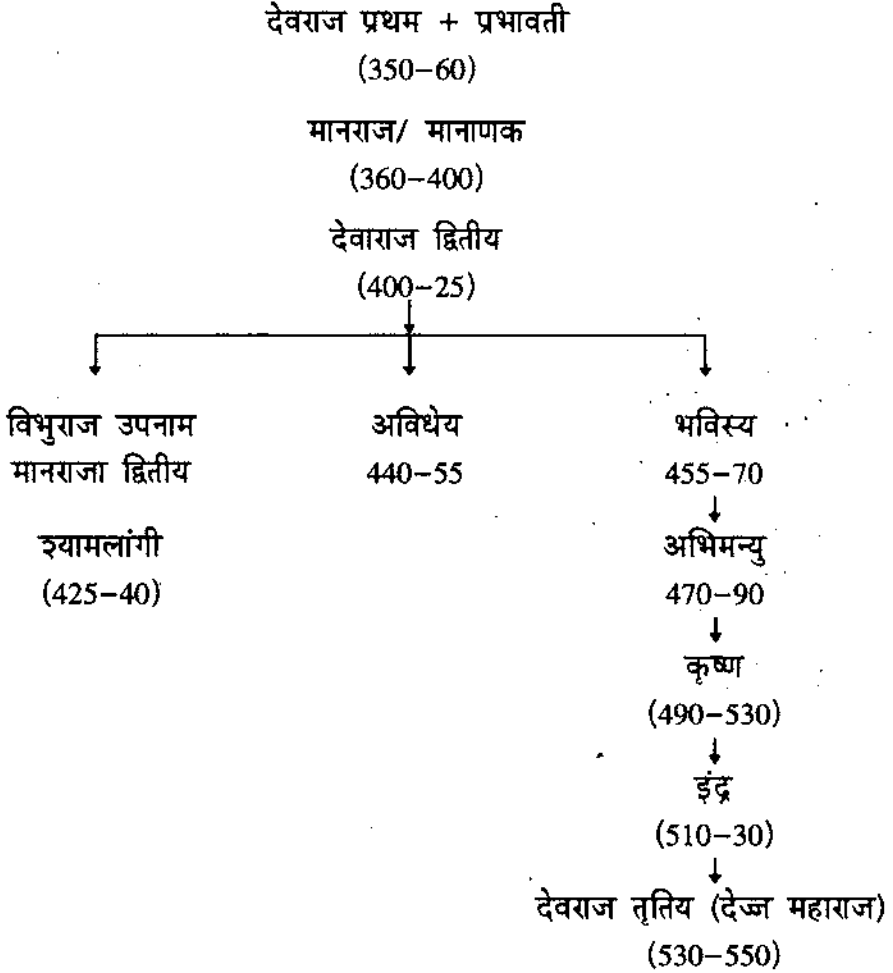
तथ्यों की वैधता के लिए स्पष्टिकरण की आवश्यकता होती है। मुख्यतया पूर्वी राष्ट्रकूटों तथा आगुप्तायिक के वंशज देज्ज महाराज महाराष्ट्र तथा कर्नाटक के सीमा भागों पर शासन करते थे, जो कोंकण से ज्यादा दूर नहीं था। गोकाक से प्राप्त कांस्य पत्रों के अनुसार देज्ज महाराज ने जमखंडी के जागीरदार सेंद्रक के इंद्रनंदी को अरहंत, जो सर्वज्ञ तथा पूजनीय थे, की प्रार्थना के लिए कश्मांडी विषय के जालारा गाँव में लगभग 50 निवर्तन की कृषि जमीन दान में दी थी। ये जंबुखंडी के गण के आर्यनंदी थे जो जैन संघ के मुनि थे और मूल संघ से जुड़े थे। जंबुखंड आधुनिक जमखंडी है, जो कि बागलकोट जिले का प्रमुख तालुका है। यह दान ई.पू. 532-33 में दिया गया था।

ऐसा माना जाता है कि छठी सदी के मध्य में बादामी चालुक्यों ने पहले दक्षिण के राष्ट्रकूटों का दमन किया और पराजित राष्ट्रकूट ऐलापुर क्षेत्र की ओर स्थानांतरित हुए। फिर अपने आश्रयस्थल का विस्तार करते हुए चालुक्यों के संरक्षण में आ गए। आठवीं सदी के मध्य में महान राजवंश के रूप में राष्ट्रकूटों ने 200 वर्षों तक चालुक्यों से भी बढ़कर अपना प्रभुत्व जताया। यह उनकी दूसरी सत्ता की दूसरी पारी थी। जैसा कि कहा जाता है इतिहास अपने को दोहराता है, चालुक्यों की एक शाखा से राष्ट्रकूटों का भारी दमन हुआ। चालुक्यों की इसी शाखा ने अगले 200 वर्षों तक शासन करने के लिए अपनी दूसरी पारी पहली पारी की अपेक्षा अधिक बुद्धिमत्ता से खेली थी।

एक महान राजवंश के प्रथम निर्माता के रूप में स्वयं को सिद्ध करने के लिए वातापी चालुक्यों ने परिस्थितियों का अच्छा दोहन किया। उनके उद्भव और विकास के साथ एक नए अध्याय का शुभारंभ हुआ। पुलकेशी प्रथम के दादा, जयसिंह ने राष्ट्रकूटों के प्रमुख राजा इंद्र को परास्त किया और फिर जयसिंह के प्रपौत्र पुलकेशी प्रथम ने अपना अभियान शुरू किया। प्रारंभ में जयसिंह ने कदंबों के अधीन रहकर एक छोटे किंतु प्रमुख व्यक्ति के रूप में अपने राजनीतिक व्यक्तित्व की शुरुवात की। किंतु एकदम अचानक उसने पूर्वी राष्ट्रकूटों के राजा मान्यपुर के अभिमन्यु के प्रति अपनी निष्ठा जतायी। चालुक्यों के शासन काल में उत्कीर्णित मांडलिकों की नामसूची में जयसिंह का नाम भी दर्ज है।

वी.वी. मिरशी, एम.डी दीक्षित, डी.सि. सरकार और एच. एस. थोसर के साथ विचार विमर्श के उपरान्त मानपुर के राष्ट्रकूटों की वंशावली पुनः रची गयी। वह वंशवृक्ष निम्नलिखित है।

4 | बाहुबलि तथा बादामी चालुक्य



प्राकृत प्रभाव के कारण देवराज का देज्ज हो गया। प्राकृत में 'र' का लोप होने के कारण देवराज का देज्ज, दूर्योधन का दुज्जोधन हो गया। इसी तरह व्यक्तिवाचक नाम देवराजम्मा का देजम्मा हो गया।

समय में फूलने फलने के कारण पुलकेशी द्वितीय का पतन निश्चित हो गया और लगभग ई. पू. 200 में आगुप्तायिका का युग आरंभ हुआ होगा। के.वी. नरेश सिरकार के कथन से मतभेद रखते हुए यह कहते हैं कि ई. पू. चौथी सदी के उत्तरार्ध में देज्ज महाराज ने आगुप्तायिका का आरंभ किया होगा और चंद्रगुप्त मौर्य द्वारा इसका अच्छा प्रारंभ हो सका होगा। 543 के पहले पुलकेशी द्वितीय से देज्ज महाराज निरस्त हुए होंगे।

ऐहोळे, बादामी, पट्टदकल तथा पुलिगेरे आदि साम्राज्य के प्रसिद्ध शहर सांस्कृतिक वरीयता की ऊँचाई पर पहुँच गए थे। तथापि यह उज्ज्वल युग एक शताब्दी तक बना रहा। उनका सामाजिक-धार्मिक जीवन, ललित कलाएँ तथा आर्थिक स्थिति काफी अच्छी थी और तत्कालीन युग में प्रजा ने अपने युग के सांस्कृतिक जातिय संस्कार का खूब आनंद उठाया था। वास्तव में आसपास के धार्मिक तथा सांस्कृतिक महत्व के केंद्रों ने महानगरी बादामी के सांस्कृतिक विकास में अपना विशिष्ट योगदान दिया, जिसने भौगोलिक दृष्टि से अपना सामरिक महत्व का स्थान बना लिया था। ऊबड-खाबड पहाड़ी पर विशाल किले का निर्माण किया गया, जो नाजुक क्षेत्र में नव निर्मित साम्राज्य को सुरक्षा प्रदान करनेवाला मज़बूत गढ़ था। ऐसा लगता है मानो कि इसके विशिष्ट प्राकृतिक परिदृश्य ने राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा सभ्यता के विकास में सहायता पहुँचा कर अपनी विशिष्टता की छाप छोड़ी हो।

प्राचीन भारत में पूर्वी चालुक्य मुख्यतया साम्राज्य निर्माताओं में से एक थे। विंध्य के दक्षिण प्रदेश तक उनका साम्राज्य फैला हुआ था। उनके शासनकाल में निरंतर युद्ध हो रहे थे। फिर भी उनके साम्राज्य में शांति थी, संपन्नता थी और विकास भी हो रहा था। उस युग का कलात्मक सृजन भारत की कलात्मक स्मारकीय गुणवत्ता की तुलना में श्रेष्ठ था। आज भारत में ऐसी कलात्मकता दुर्लभ है और सौभाग्यवश आज भी वे अपनी नव्यभव्यता के साथ खड़ी है।

इस प्रकार, जैसा पहले कहा गया है कि तत्कालीन कला एवं सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों में जैनों का स्थान विषय पर स्वतंत्र अध्ययन की आवश्यकता है। दिलचस्प बात यह है कि जैन कला में भव्य-भवन, पाषाणों में बनी प्राचीन गुफाएँ तथा जैनों तथा उनके दास-भक्तों की भव्य मूर्तियों का समावेश है। जैनों की शिल्पकला, पूर्वी चालुक्य तथा राष्ट्रकूटों की कला के मध्य एक कड़ी थी, जिससे निश्चित ही राष्ट्रकूटों के स्वर्णयुग का पूर्वानुमान होता है।

सुरक्षा सेना व्यवस्था में इनकी अत्यंत तेज चतुर्दलीय सेना थी—रथ-दल, गज-दल, अश्व-दल तथा पद-दल। क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित ढंग से शत्रु का विनाश करना चालुक्यों की नीति थी, जो छठी सदी के मध्य एक उच्च राजवंश के रूप में उदित हुए थे।

‘वीर जयसिंह’, ‘विजय का सिंह’ ने चालुक्य राजवंश को अग्रिम पंक्ति में लाकर खड़ा किया और उसके बाद उसने कभी पीछे मुड़कर देखा ही नहीं और असाधारण कार्य करता हुआ आगे और आगे ही बढ़ता चला गया।

महाकूट के स्तम्भ लेखों में उसे वैश्रवण उपनाम कुबेर के रूप में चित्रित किया गया है जबकि ऐहोळे के शिलालेख में उसे योद्धा के रूप में अंकित किया गया है, जिसने साम्राज्य की चंचल देवी को भी नियंत्रण में लाया था। जयसिंह के पुत्र बुद्धिवर्मन को रणविक्रान्त तथा रणराग की उपाधि से विभूषित किया गया था। जो उपाधियाँ कालांतर में उसके नाम की ही पर्याय ‘बन’ गईं इतिहासकारों ने उसे ‘रणराग’ के नाम से संबोधित किया है। जाहिर है यह उपाधि उसकी शूरता और वीरता का दर्पण ही थी। जयसिंह का पुत्र ‘रणराग’ (520-40) एक जाँबाज योद्धा और एक सत्यनिष्ठ राजा भी था। शिलालेखों में उसे देवीशक्तियों से युक्त राजा के रूप में चित्रित किया गया है और साथ ही जगदेकनाथ (विश्व का एकमात्र राजा) की उपाधि से भी सम्मानित भी किया गया है। विरुदावली या स्तुतिगान के अलावा जयसिंह और ‘रणराग’ (पिता-पुत्र) ने स्वतंत्र राजा का स्थान कभी नहीं लिया। सत्याश्रय जैसी उपाधि पहली बार जयसिंह को ही दी गई फिर उसके बाद यह उपाधि अन्य राजाओं तक निरंतर चलती रही। कवि रविकीर्ति ने अपने आश्रयदाता को सत्याश्रय तथा महाराज के रूप में वर्णित किया है। तैलप्पा के पुत्र ने सत्याश्रय यह नाम रखा था।

चालुक्य राजवंश का प्रथम राजा, जयसिंह प्रथम, गुणचंद्र, वसुचंद्र, वादिराज जैसे धर्माचार्यों तथा उनके आध्यात्मिक उपदेशों का संरक्षक था।

द्वितीय अध्याय

आरंभ के शासक

रणराग (520-40) का पुत्र तथा जयसिंह का प्रपौत्र पुलकेशि प्रथम (540-66) अपनी योग्यता तथा बलबूते पर चालुक्य राजवंश का प्रतिष्ठापक बना। उसकी राजनीतिक दूरदर्शिता ने (543-44) बादामी की मजबूत पहाड़ी को एक मजबूत कीलेबंदी में परिवर्तित करने की प्रेरणा दी और फिर उसने अपनी स्वतंत्रता घोषित की।

पुलकेशि प्रथम के इस फैसले को इतिहासकारों ने उसकी प्रतिभा का उचित निर्णय कहकर प्रशंसा की है। कारण यह किला मलप्रभा नदी से पाँच किलोमीटर की दूरी पर सुरक्षा हेतु बनवाया गया था। इस स्थान का उसका चुनाव उचित ही था, जो उसके अधिपत्य का ही शुभ संकेत था। इस पहाड़ी के पूर्व में पाँच किलोमीटर आगे महाकूट तथा उसी दिशा में थोड़ा आगे नदी के पास प दकल्ल और आठ किलोमीटर नीचे की ओर ऐहोळे है। तत्कालीन मंदिर तथा उत्कीर्णित लेख चालुक्यों के अधिपत्य के साक्ष्य हैं।

पुलकेशि प्रथम ने अपना विजयोत्सव मनाने के लिए अश्वमेध के साथ-साथ अन्य धार्मिक यज्ञ भी किए। तथ्यों को देखने से ऐसा लगता है कि पुलकेशि प्रथम और द्वितीय को रणविक्रम, रणपराक्रम, रणविक्रान्त तथा रणरासिक आदि उपाधियों से नवाज़ा गया था।

पुलकेशि प्रथम का मूल नाम 'येरेय' पुलगेरि की एक शिला पर दर्ज है, जो कि ताम्रपत्र की नकल ही है। पुलकेशि प्रथम के शासन काल में ही शंखजिनालय के निर्माण का काम किया गया था। अपने राजवंश के राजनीतिक विकास में रणराग की क्या भूमिका थी इसकी कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। फिर भी अपने वंश का वह प्रथम राजा था जिसे रणराग की उपाधि प्राप्त हुई थी और उसके बाद भी उसके परिवार के अन्य राजाओं को भी यह आदरसूचक नाम मिलता गया। निश्चित ही इस राजा ने कई युद्धों में विजय प्राप्त की थी।

यह जरूरी तो नहीं कि कोई राजा अगर यज्ञ करता है तो वह राजा ब्राह्मण ही हो। प्रत्येक शासक या राजा की महत्वाकांक्षा होती है कि वह हर दिशा में अपना नाम बनाए, संपन्न हो, इसलिए वे हमारी परंपरा तथा रीति-रिवाजों से जुड़ गए। कलिंग के प्रसिद्ध राजा खारवेल ने, जो कि एक कट्टर जैन था, छठी सदी के मध्य, अपने शासनकाल (ई.पू. दूसरी सदी) में राजसूय यज्ञ किया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन राजाओं ने इन परंपराओं को तोड़ा नहीं, वे क्षत्रिय वंश के होने पर भी यज्ञादि के खिलाफ नहीं थे। खारवेल शासकों का सुक्तवाक्य था, 'सर्व पसन्दय पूजको' तथा 'सर्वदेवायन्ता संस्कार कारक' अर्थात् वे सबकी पूजा में विश्वास करते थे और सबका आदर करते थे।

इस तरह उनका अनेकान्तवाद शायद ही कभी तत्कालीन श्रद्धा और विचारधारा तथा मान्यता के विरुद्ध संघर्ष का कारण बना हो।

इस प्रकार प्रजा तथा राज्य के हित के लिए किया जाने वाला दानधर्म राजधर्म का ही अभिन्न अंग था। कोई भी महत्वाकांक्षी राजा विजयप्राप्ति तथा विजयोत्सव के लिए किसी न किसी यज्ञ का आयोजन किया ही करता था, पुलकेशि प्रथम ने भी अपने पूर्वजों के पदचिह्नों का अनुसरण किया।

'ऐहोळे' जयसिंह तथा उसके अधिकारियों का तबतक मूलस्थान था जब तक पुलकेशि ने वातापी को केंद्र स्थान बनाया नहीं था, जिसे वनवासी के कदंबों ने छीन लिया था। पर जब तक चालुक्य उस पर अपना अधिकार कर लेते सातवाहनों ने उसे अपने अधीन कर लिया था और वहाँ एक ईंटों का मंदिर भी बनवा दिया था और उसे आर्यपुर यह नाम भी दिया था, जो कि ऐहोळे का संस्कृतमूल था, जिसका बाद में 'आर्यपोळाल' यह संक्षिप्त रूप हो गया, जिसका अर्थ था, 'प्रमुख शहर'। संभवतः 'अहिवोळल' 'अहिवळ्ळि' 'ऐवळ्ळि' तथा 'ऐहोळे' इन शब्द-भिन्नता के बारे में सोचने की आवश्यकता है।

रणराग के प्रियतनु पुलकेशि प्रथम ने स्वयं को 'प्रथम विधात्रि' सिद्ध किया। जो 'वातापि' का प्रथम निर्माता था। इस तरह 'सत्याश्रय श्री पुलकेशि वल्लभ महाराज' की अपनी पूर्ण उपाधि से वह चालुक्यों के शासन में एक लब्धप्रतिष्ठित राजा के रूप में चमक उठा। बादामी के उत्कर्णित (वर्तमान युग 543) लेखों में उसकी 'चालुक्यों का वल्लभेश्वर' कहकर प्रशंसा की गई है। (EI. VOL. XXVII: P:4) उसके बाद पुलकेशि धर्मराज राजाओं का राजा बन गया। दुर्लभदेवी बप्पुरा राजवंश की राजकुमारी उसकी पटरानी थी और दमयन्ति के समान वह अपने पति को समर्पित थी। (Mahakuta Pillar Inscription)

पूगवर्म के अकाल निधन के कारण उसका छोटा भाई राजगदी पर आया। पुलकेशि प्रथम के पुत्र कीर्तिवर्म प्रथम (566-97) ने पश्चिम घाट पर अपने राजतंत्र की वृद्धि की। उसने बनवासी के कदंबों, कोंकण के मौर्यों तथा नलों को कुचला जो बेल्लारी के नलवाडी तथा कर्नुल जिले से शासन किया करते थे। शत्रुओं को परास्त करने के बाद इंद्रवर्म को कोंकण तथा पश्चिमी घाट प्रदेश का भार सौंपा।

रेवति द्वीप तथा गोवा के बंदरगाह का दमन करने से उनके साम्राज्य-विस्तार में अतिरिक्त वृद्धि हुई। कदंबों को, जो बनवासी में दो सौ वर्षों तक (330-545) मज्जबुती से अपनी जड़ें जमा कर शासन कर रहे थे, उनको खदेड़ने का श्रेय पुलकेशि को जाता है।

कीर्तिवर्म को 'सत्याश्रय', 'ऊरुरण-पराक्रम', 'वल्लभ' तथा 'कीर्तिवल्लभ' आदि उपाधियों से सम्मानित किया गया था। इसके अलावा उसके अन्य दो नाम भी थे। 'कट्टियरस' तथा 'पुगवर्मन'। कीर्तिवर्म ने अच्छी तरह से अपने साम्राज्य का विकास किया था। जैसा कि पहले कहा गया है, उसने कदंबों का विनाश किया, नलों को परास्त किया तथा मौर्यों का दमन किया था। तीन दशकों का उसका उत्कृष्ट शासन उसके पिता की उपलब्धियों का स्मरण कराता है।

पुलकेशि द्वितीय (610-642) उपनाम इरिय्या छोटी आयु में ही अपने पिता का उत्तराधिकारी बना। पुलकेशि एक छोटा सा बच्चा था जब उसके पिता ने आखरी साँस ली थी। वे अपने पीछे चार पुत्रों (पुलकेशियों को) को छोड़ स्वर्ग सिंधार गए थे। वे चार पुत्र थे - विष्णुवर्धन, धराश्रय, जयसिंह, तथा बुद्धवरसा।

हालाँकि पुलकेशि आयु में बहुत छोटा होने के कारण उसके चाचा मंगलेश तथा उसके छोटे भाई कीर्तिवर्म ने शासन की बागडोर संभाली। लगभग 200 वर्षों के बाद एक समान स्थितियों का निर्माण हुआ था। जब 814-79 में अमोगावर्षा

जब एक छोटा सा बच्चा था तब राष्ट्रकूटों के साम्राज्य की बागडोर कर्की ने संभाली थी।

सौभाग्य से शौर्य के प्रेमी शेरदिल मंगलराजा (596-609) ने वृद्धि तथा विकास की अपनी नीति जारी रखी थी। उसने बुद्धरस उपनाम बुधाराजा कटचुरी राजा (कलचुरि राजा) जिनका राज्य गुजरात, खानदेश तथा मालवा तक फैला हुआ था, पर आक्रमण कर लूट का माल राजकोष में भर दिया था। अपने नाम 'उरुरण पराक्रम' के अनुसार उसने अपने कार्यकाल में कोंकण प्रदेश में चालुक्यों की सत्ताशक्ति को पुनःस्थापित किया और रत्नागिरि जिले में स्थित रेवतिद्वीप के राजपाल स्वामीराज के विद्रोह का दमन कर ध्रुवराज इंद्रवर्म को उस प्रदेश का राजपाल नियुक्त किया। इस प्रकार उसने चालुक्यों का अधिपत्य विंध्य के उसपार भी फैला दिया था। मंगलेश को जैन धर्म के साथ-साथ अन्य धर्मों के प्रति भी आदर और सम्मान था। बादामी में स्थित 'जैन गुफा' तथा परलूरु का 'शांतिनाथ मंदिर' मंगलेश के कार्यकाल के दो प्रमुख स्मारक हैं। मंगलेश के कार्यकाल के हुल्ली कांस्य पत्र (ई.स. 600) में पूरलूर संघ की श्रेष्ठता को दर्ज किया गया है। बादामी में स्थित उसके शासन काल की जैन गुफा (संख्या 4) अत्यंत सुंदर शैली में बनवाई गई है।

राजकुमार पुलकेशि के बड़े होने तक सब कुछ सही और सुरक्षित था। मंगलेश निर्भय और निरपेक्षता से कार्य किया करता था। किंतु जब पुलकेशि का प्रतिक्षित राज्याभिषेक का स्वर्णिम क्षण आया और उत्तराधिकारी के रूप में अपनी राजगद्दी की ओर बढ़ने लगा तब मंगलेश ने अपना शासन और अधिक समय के लिए बढ़ाने की सोची। उसने वैध उत्तराधिकारी को सिंहासन देने से मना किया और अपने पुत्र को राजा बनाने के लिए गुप्त रूप से षडयंत्र रचने लगा। जबकि इसके विपरीत महाकूट के एक स्तम्भ पर मंगलेश को 'युधिष्ठिर' इव सत्य संघ' कहा गया है। मंगलेश ने अपने शासनकाल में कई वीरोचित कर्म किए जिसमें उसकी कोंकण विजय तथा मध्य-भारत की कलचुरि विजय भी शामिल है। उसने अपने बड़े भाई को श्रेय देने के लिए कई वैष्णव गुफा मंदिरों का उत्खनन किया था। अधिकार हड़पने तथा अपने संबंधियों को उत्तराधिकार के रूप में राज्य दे देने के उसके स्वार्थी मतलब के कारण मंगलेश का व्यक्तित्व धुँधला पड़ गया और उसका कद बौना हो गया। तथापि उसकी उपलब्धियों को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता। वह एक सामान्य आदमी था कोई देवदूत नहीं और भूल तो आखिर इन्सान से ही हुई है अतः उसको द्रोही का लेबल लगाना उचित नहीं है।

पुलकेशि बहुत ही चालाक और तीक्ष्ण बुद्धिवाला था। उसने अपने चाचा के षडयन्त्रों तथा गुप्त मंत्रणाओं को सूँघ लिया और तुरंत ही कार्यरत हो गया। उसकी साजिश का पर्दाफाश करने के बाद उसने निष्ठावान लोगों से सैनिक सहायता प्राप्त की और गृहयुद्ध शुरु किया। मंगलेश को निकाल बाहर करने के लिए बाणों ने पुलकेशि को (ई.स. 609 में एळबट्ट सिंभिगे नाडनूर गाँव की रणभूमि पर) सहायता प्रदान की। पुलकेशि ने अपनी उच्चाकाँक्षा तथा युद्धकौशल से मंगलेश को परास्त किया और राजाधिकार प्राप्त करने के लिए वर्तमान युग 609 में एळबट्ट सिंभिगे गाँव की रणभूमि में मंगलेश पर आखिरी वार करने अपनी तलवार उठायी। इस घटना के बाद मंगलेश के पुत्र का क्या हश्र हुआ इसका कोई पता नहीं है। पर हो सकता है कि उसके पुत्र के साथ भी वैसा ही बर्ताव किया गया होगा जो मंगलेश के साथ किया गया था।

मंगलेश की मृत्यु के बाद पुलकेशि का संघर्ष खतम नहीं हुआ था उलटा अधिक ही बढ़ने लगा था। विद्रोही शक्तियों के साथ उसे सतत लड़ना पड़ा था। उसने अपने राजनीतिक कौशल से एक महान राजा के रूप में अपनी शत्रुता को अवसरबादिता में बदल दिया। शौर्य ही नेता को जन्म देता है। पुलकेशि की गतिशिलता ने घिरे हुए काले बादलों को छितराकर दूर भगा दिया। उसने अपनी विजय-श्रृंखला से अपनी योग्यता तथा तेज दर्शा दिया।

पुलकेशि ने अपनी विजय-यात्रा का जीवन आरंभ किया। उसने भीमारति नदी के उत्तरी तट पर बसे कलचुरि के अप्पायिकों को निर्मुल किया। उत्तरी कोंकण के मौर्यों को नाको चने चबवा दिए जो वास्तव में मंगलेश का सहायक था। उसने अपने शत्रुओं को समर्पण का अवसर दिया और राजनीति के खेल में बिल्लियों को कभी शेर बनने की अनुमति नहीं दी। उसने तुळुनाडु (दक्षिण केनरा) के आळुपाओं को चकमा दिया। तलकाडु के गंगों को विफल किया। दुर्विनीत की पुत्री से विवाह किया। कदंबों को बनवासी से प्रस्थान करने के लिए कहा और सब पर अपने शासन की छाप छोड़ी। उसके सुरक्षा अभियान में लाट, मालवा तथा गुर्जरा के राजाओं ने उसके अधिराज्य को उत्स्फूर्तता से सहायता प्रदान की। चालुक्यों के नगाडों से निनादित उत्तरीभाग माही नदी तक विस्तारित होता गया। चोळ पांडूय और केरल नरेश पल्लवों को खदेडने को उत्सुक थे और वे चालुक्यों का साथ पाकर शक्तिशाली बन रहे थे। उसके सशस्त्र-सैन्य-जलपोत समुह ने धारापुरी (आधुनिक एलिफंटा द्वीप) को लूट लिया, जो पश्चिमी घाट की निखात-निधी थी।

संक्षेप में, पुलकेशि द्वितिय ने बनवासी तथा पिष्टपुर के प्रमुख किलों पर कब्जा किया और जिन लोगों ने उसका अधिपत्य नहीं माना उनसे लड़ते, संघर्ष करते, उनको अधीन बनाते हुए उसने अपनी जययात्रा आरंभ की। उसने चारों दिशाओं के भू-भाग को अपने अधीन कर दक्षिण में अपना झंडा गाड़ दिया। पुलकेशि ने 99,000 गाँवों के एक बृहत भूभाग पर अपना शासन जमाने का एक साहसी कार्य किया और मगन अदमरि (अदमरी का बेटा) अर्थात् शत्रु राजाओं को अपने युद्ध-नगाडों की आवाज़ से भयभीत करनेवाला नाम अर्जित किया। लोहनेरा के ताम्रपत्र पर उसके लिए 'पूर्वापरसमुद्रधिप' विशेषण दिया गया है। अर्थात् पूर्व-पश्चिम समुद्र का देवता। यह विशेषण इस बात का ही संकेत देता है कि उसका साम्राज्य दो समुद्रों के बीच के विशाल भाग तक फैला हुआ था।

अपनी राजनीतिक प्रतिभा से पुलकेशि ने अपने भाइयों को प्रशासनिक कार्य का उत्तरदायित्व सौंपकर उनको सशक्त बनाया। धराश्रय जयसिंह और कुब्ज विष्णुवर्धन को क्रमशः नासिक तथा बेंगी प्रदेश का उपराजा बनाया। विष्णुवर्धन उपनाम बुद्धरस, वेंगी मंडल का प्रमुख बनने से पूर्व सातारा का उपराजा था।

पुलकेशि की ख्याति और शक्ति ने कन्नौज के श्रेष्ठ सम्राट हर्षवर्धन को दक्षिण पर आक्रमण करने के लिए उकसाया। दो महान योद्धा मिले और उन्होंने नर्मदा के तट पर अपने-अपने युद्ध शिविरों के पड़ाव डाले। किंतु अजेय हर्षवर्धन अपने जीवन में पहली बार, पुलकेशि का सैन्यबल देखकर हताश हुआ और उसने अपनी सेना पीछे हटायी। दोनों विवेकी तथा दूरदर्शी महान योद्धाओं ने एक दूसरे की शक्तिमत्ता को देखकर अपनी अपनी सेना को पीछे हटने का आदेश दिया और एकदूसरे का मान तथा सम्मान बनाए रखने के लिए यह समझौता किया कि नर्मदा नदी का दक्षिण भाग पुलकेशि के अधीन रहेगा। इस प्रकार पुलकेशि ने दक्षिण पथेश्वर तथा परमेश्वर जैसे असामान्य विरुद्ध अर्जित किए।

वास्तव में चालुक्यों का अधिपत्य नर्मदा के दक्षिण तट तक फैला था जो अपने आप में कर्नाटक के उत्कृष्ट यश प्राप्ति का ही स्रोतक था।

यह एक महान गौरव या विजय ही कहें, जिसमें रोमहर्षित करने वाले सारे गुण थे, एक लंबे अरसे से जिसे संजोया गया था। पुलकेशि ने पहले भी और बाद में भी कई अश्वारोही युद्ध किए थे किंतु दैदिप्यमान हर्षवर्धन पर उसने सोच समझ कर ही प्रहार करना चाहा और इसलिए उसने अपनी फौज को पीछे हटने का आदेश दिया था। कवि रविकीर्ति संभवतः इस रक्तसिक्त युद्ध का चश्मदीद गवाह रहा होगा।

क्योंकि उसने सम्राट हर्षवर्धन का करुणाजनक चित्र खींचते हुए उस पर विडंबन किया है, 'पतित गजेन्द्रानीक बीभत्सभूतो भय-विगलित हर्षो येन चाकारि हर्षः'।

इस युद्ध की दुटुंभी यहीं पर रुकी नहीं हुई बल्कि पुलकेशि ने उत्तर के उल्लेखनीय युद्धों से प्रेरित होकर अपने छोटे भाई राजकुमार विष्णुवर्धन को राजधानी का प्रभारी बनाकर पूर्वी दक्षिण की ओर अपना मोर्चा किया। अपने निष्ठुर राजविस्तार अभियान में उसने कलिंग, कोसला, कुनाल (एल्लुरु के पास कोल्लेरु) पिष्टपुर, (गुंटुर जिले का पिठामपुर) पर विजय प्राप्त की। कुनाल सरोवर के पूर्वी तट के विश्नुकुंडनियों ने अपना समर्पण किया। फिर आगे बढ़कर पुलकेशि ने पल्लवों के उत्तरी प्रदेश को भी अपने राज्य में जोड़ लिया। ई. स. 621 में पुल्ललुरु के युद्ध में पल्लवराज महेन्द्रवर्मन प्रथम (600-30) को मिली पराजय से पल्लवों और चालुक्यों के संबंधों में कड़वाहट आयी और उसके बाद हमेशा के लिए शत्रुता को हवा दी गई जिससे आनेवाली पीढियों तथा राजवंशों को इसका आघात सहना पड़ा। तथापि, पुलकेशि को दो महान नेताओं (उत्तर में हर्ष और दक्षिण में महेन्द्रवर्मन प्रथम) को पराजित करने का श्रेय जाता है।

पुलकेशि की राजनीतिक शक्ति, प्रशासनिक दूरदर्शिता, रणभूमि का पराक्रम तथा प्राविण्य और सांस्कृतिक वैभव आदि शिलालेखिय स्रोतों से अनुप्राणित है।

पुलकेशि द्वितीय की महत्वाकांक्षा ने उसे एक बार फिर पल्लवों पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया। पल्लवों की राजधानी के मार्ग पर स्थित रायलसीमा के बाणों तथा पल्लवों के वत्सलों को अपने वश में कर लिया। तीन दशकों से भी अधिक काल के लिए युद्ध की दुटुंभियों तथा नगाडों की आवाज़ से आसमान गूँज रहा था जो कुछ उसने देखा और चाहा उसने उस पर विजय हासिल की। कई छोटे मोटे देशों की अधीनता, उज्वल जीवन तथा ऊँची आकांक्षाएँ आदि ऐसी चरम सीमा पर पहुँच गई थी कि मानो अब अपकर्ष की ही प्रतीक्षा शेष रही हो। और वह क्षण समय से पहले ही आ गया। अब युद्धों के खतरों की अनिश्चितता बढ़ रही थी।

निर्भय और क्रुद्ध पल्लव घायल शेर की भाँति क्रोधित हुए थे और चालुक्यों के अधिपत्य को कुचल देने के लिए सही समय का इंतजार कर रहे थे। दीर्घ प्रतिक्षित और संजोये समय ने पल्लवों का दरवाज़ा खटखटाया। उनके दिलों को पीछे हटने की पीड़ा खासकर पल्लवों को हताश करने वाली थी, जिन्होंने अपनी सेना को सशक्त मान लिया था। किंतु लगातार मिली हार से उनकी कमियाँ खुलकर

सामने आयीं। हर मोर्चे पर उसे समेकित करने की आवश्यकता को महसूस कर पल्लवों ने सबसे पहले अपनी सेना में प्रेरणा के प्राण फूँके। महेन्द्रवर्मन का प्रथम पुत्र बहुप्रतिभाशाली नरसिंहवर्मन प्रथम महामल्ल (630-68) ने अपने पिता की पराजय का मूँह-तोड़ जवाब देने के लिए युद्धाभियान की योजना बनायी। उसने युद्ध की गहरी चाल चली। ऊँची छलांग लगाने के लिए पहले वह पीछे हटा और फिर उचित दंड देने के लिए नरसिंहवर्मन ने अपनी चतुर्दलिय सेना से चालुक्यों के प्रदेश पर घोर आक्रमण किया। उसने अजेय विजेता पुलकेशि का विनाश किया और बादामी को निष्ठुरता से छीनकर स्वयं 'वातापीकोण्ड' बन गया।

अपनी विजय पर अतिहर्षित होकर पल्लवों की सेना ने बादामी को जला दिया। युद्धकाल में आग लगाना, जलाना किलों तथा राजधानी के शहरों, मंदिरों आदि को नष्ट करना उन दिनों आम बात थी। राष्ट्रकूटों तथा चालुक्यों की राजधानियाँ क्रमशः मल्लखेड और कल्याण जलायी गयी थीं। इसी वजह से अथवा अपनी सुरक्षा के लिए राजा अपनी राजधानी का क्षेत्र बदला करते थे। चोळराज राजेन्द्र प्रथम ने अपनी राजधानी गंगाईकोण्डा कोलापुरम भी वर्तमान युग 1042 में बदली थी। उसके विरोधी आहवमल्ल त्रैलोक्यमल्ल सोमेश्वर प्रथम ने भी अपना निवास मल्लखेड से निकालकर कल्याण में बना लिया था।

पिरियाल, मणिमंगल और सूरमार के रक्तपिपासू युद्धों में चालुक्यों की सेना ने पल्लवों की महान सेना के सम्मुख समर्पण किया। अब तक अपनी सेना को चारों खाने चित्त देखकर, भयभीत प्रजा को रोते देखकर पुलकेशि एकदम निस्तेज हो गया। अपने प्रिय शहर बादामी तथा किले को भस्मीभूत देखकर उसके दुख की कोई सीमा नहीं रही। उसने प्रतिकूल पिरिस्थितियों का अंत तक सामना किया पर व्यर्थ। अंत तक प्राणों पर खेलकर लड़ते हुए उसने आखिर वीरगति प्राप्त की। उसने सम्मान के अलावा सब कुछ खो दिया था। अब समय नरसिंहवर्मन के हक में था। उसने अपनी अभूतपूर्व विजय का भरपुर आनंद उठाया और (ई.स.642 में) वातापीकोण्ड यह उपाधि अपनी योग्यता के बल पर अर्जित की। अपनी विजय के स्मरणार्थ उसने अपने किले की दीवार पर जयशासन उत्कीर्णित किया था।

पुलकेशि का प्रदीप्त नवयुग वर्तमान युग ई.स. 642 में समाप्त हुआ। राजनीतिक परिदृश्य से पुलकेशि का निकास चालुक्यों तथा पल्लवों के मध्य संघर्ष को थोड़ी सहत दे गया। पर यह कुछ ही समय के लिए था। यह एक तरह से अस्थायी शांति

थी। बाद के वर्षों में दोनों के मध्य प्रतिरोध तथा युद्धों ने और अधिक गति धारण की। प्रतिरोध की भावना इतनी आसानी से शांत होने वाली नहीं थी।

इसमें कोई शक नहीं कि अद्वितीय पुलकेशि के नेतृत्व में चालुक्यों ने जो प्रतिष्ठा पायी थी उसके बारे में वे अब तक बेखबर ही थे। कई मायनों में वह एक महान निर्माता तथा बेमिसाल था। राजनीतिक क्षेत्र में पुलकेशि के बारे में हम यह कह सकते हैं कि वह आया, उसने देखा और जीता। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्युन त्सांग, जिसने ई.स. 641-42 में भारत के दक्षिण भाग की यात्रा के दौरान वह कर्णाट देश से भी गुजरा था। अपनी यात्रा के दौरान, पुलकेशि द्वितीय के शासनकाल में प्रचलित सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का उसने निरीक्षण किया था। उस साम्राज्य के कुछ प्रचलित अंशों को अगर देखना हो तो ह्युन त्सांग के यात्रावृत्त को देखना होगा जो निम्नलिखित है...

‘यह देश लगभग 5000 ली के वृत्त में है। पश्चिम में एक बड़ी नदी कृष्ण के तट पर राजधानी है। जो लगभग 30 ली गोलाकार है। यहाँ की मिट्टी अच्छी और उपजाऊ है। जिस पर निरंतर फसल उगाई जाती है और जो निर्माणशील है। यहाँ की आबोहवा गरम तथा लोग बहुत ही ईमानदार और सीधे सादे हैं। वे ऊंचेपुरे तथा प्रतिरोध की भावना से भरे हैं। अपनों के लिए वे महान हैं तो शत्रुओं के प्रति क्रोधी हैं। उनका यदि अपमान किया जाय तो वे अपनी जान जोखिम में डालकर उसका प्रतिकार करते हैं। संकट के समय अगर उनको किसी की सहायता करने के लिए कहा जाय तो वे खुद को भूलकर सहायता करने पहुँच जाते हैं। और अगर उनको प्रतिरोध लेना है तो वे अपने शत्रु को पूर्व चेतावनी देते हैं और जब दोनों हथियारों से लैस हो जाते हैं तब वे एक दूसरे पर भाले बरछे से वार करते हैं। जब कोई एक भाग जाता है तो दूसरा उसे प्रेरित करता है पर उसे मारा नहीं जाता। अगर सेनापति युद्ध में हार जाता है तो उसे कोई सजा नहीं दी जाती बल्कि उसे औरतों का वेश भेंट स्वरूप दिया जाता है। इससे वह खुद मृत्यु चाहने लगता है।’

ह्युनत्सांग ने पुलकेशि को देखने के बाद यही दर्ज किया है कि, ‘यह Tsai-li (क्षत्रिय, योद्धा) की जाति का है। इसका नाम पु-लो-कि-शे है। उसकी योजनाएँ गहन, गंभीर तथा विशाल हैं। उसने खुले दिल से अपनी दया तथा हित सबके लिए समान रूप से दिखाई। उसकी प्रजा पूर्ण समर्पण भाव से उसकी सेवा करती है। वर्तमान में शिलादित्य महाराज (हर्ष) ने पूर्व से पश्चिम देश पर विजय

प्राप्त की है। और वह अपने सैन्य दल को सूदूर जिलों तक ले गया। लेकिन यहां के लोगों ने उसको समर्पण नहीं किया।

ऐहोळे और बादामी निःसंदेह सुगट (बौद्ध) तथा अरहत (जैन) के महत्वपूर्ण तथा प्रमुख पीठ थे। किंतु शिलालेखों तथा ह्युन त्सांग के यात्रा वर्णन के अलावा राजतंत्र में युद्धों की प्रतिष्ठा का कोई भी लिखित प्रमाण आज उपलब्ध नहीं है।

चीनी यात्री ईत्सिंग (I-tsing) ने पूर्वी भारत के महान राजा लृत्प-क्व्ज-ध्व अर्थात् चन्द्रादित्य राजभृत्य से भेंट की थी। चन्द्रादित्य संभवतः विक्रमादित्य का बड़ा भाई, पुलकेशि का पुत्र तथा हर्ष शिलादित्य पर विजयप्राप्त करनेवाला रहा होगा। ईत्सिंग (I-tsing) ने यह उल्लेख किया है कि चन्द्रादित्य कवि था जिसने वेस्संतर जातक की रचना की थी (जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी (छ.द.:Vol. I. P. 260; IA.Vol. vii : pp. 163-219).

रणविक्रम पुलकेशि द्वितीय की दो महारानियाँ कदंब तथा गंगों के राजवंश से थी और तीसरी प्रसिद्ध गंग राजा दुर्विनीत की सुपुत्री थी। कदंब की राजकुमारी पहली महारानी थी।

पुलकेशि के पाँच पुत्र थे, आदित्यवर्म, (जिसके पुत्र का नाम अभिनवादित्य था) चन्द्रादित्य, (जिसकी पत्नी प्रसिद्ध विजयाभ रिका थी) रणरसिक विक्रमादित्य प्रथम, (जो कि युवराज था) जयसिंहवर्म (जिसने लाट शाखा की खोज की थी) और राजकुमार रणराग वर्म (संदिग्ध पहचान, जिसे सावंतवाड़ी का प्रभारी बनाया गया)। आदित्यवर्म को नोळम्बवाड़ी का प्रमुख नियुक्त किया गया था। विक्रमादित्य वैगीमंडल का राजा था। विजयाभट्टारिका को सावंतवाड़ी प्रदेश की जमीन नेरूर से उपहार में दी गयी थी, जिसकी देखभाल उसका पति कर रहा था। धराश्रय नरसिंहवर्मन ने गुजरात शाखा की स्थापना की थी। इस प्रकार पुलकेशि ने अपने पुत्रों को वायसराय के पद पर नियुक्त किया और अंततः प्रियतनु विक्रमादित्य ने साम्राज्य की राजगद्दी संभाली। विक्रमादित्य तथा उसके बड़े भाइयों से संबंधित शेष विवरण आगे पृष्ठों में दिया जाएगा।

ख्यातनाम अख्तबरी के अनुसार परशिया के बादशाह खुसरो द्वितीय ने 625 में चालुक्य सम्राट का स्वागत किया था और इस सौजन्य का आदान प्रदान भी हुआ था। पुलकेशि प्रथम से मंगलेश तक का काल एक मजबूत बुनियाद का काल था और पुलकेशि द्वितीय का कार्यकाल यानि जैसे चंद्रमा की शोभा ही थी।

तृतीय अध्याय नंतर के शासक

कर्णाट देश ने पहली बार जैनों की चक्रवर्ती राजा की पौराणिक परिकल्पना को पुलकेशि द्वितीय के अद्वितीय दिग्विजय में साकार होते देखा। परवर्ती दंतकथाओं में पौराणिक चरित्र नायक के समान ही उसकी उपलब्धियों तथा जीवन का खूब बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया गया है। रविकीर्ति और पुलकेशि, एक आश्रित कवि और दूसरा अधिपति, दोनों की आत्मियता ने परवर्ती सिंहासनाधिष्ठ शासकों को विद्वत्जनों से साहचर्य और सौहार्द बनाए रखने की प्रेरणा दी। अन्य उल्लेखनीय बातें यह थीं कि चालुक्य तथा जैनों में सौहार्द था, दोनों लोकप्रिय थे और जनता के स्नेह से संरक्षित थे। हरपनहळ्ळी तथा उसके आसपास की पहाड़ी अरनळ्ळी चट्टानें जैनों की प्रार्थनाओं से गूँज उठती थीं। शिलालेखों के विवरण इस बात का समर्थन करते हैं कि सातवीं सदी के प्रारंभिक दशकों में इन पहाड़ी चट्टानों पर कई जैन मुनियों ने बड़े धैर्य के साथ सल्लेखन का व्रत धारण किया और मृत्यु को आमंत्रित किया।

विधिलिखित के अनुसार कुब्ज विष्णुवर्धन (615-33) चालुक्यों की एक अन्य शाखा का संस्थापक बना। अपनी राजनीतिक पटुता

और कुशलता से उसने पूर्वी खाड़ी प्रदेश के आंध्र राज्य को जीतकर अपने राज्य के साथ जोड़ दिया और वेंगी उपनाम पूर्वी चालुक्य राजवंश की स्थापना की और उसके बाद लगभग 500 वर्षों से भी अधिक समय तक अपना प्रभाव बनाए रखा।

कुब्ज विष्णुवर्धन की महारानी अय्यण महादेवी के विजयवाटिका, नडुम्बिवसति (जैन मंदिर) तथा तोकनाटवाडा-विषय में स्थित मुसुनिकोंड ग्राम का प्रबंध करने नियुक्त किया। नडुम्बिवसति के प्रमुख धर्माचार्य कालीभद्राचार्य कौरूरु गण से संबंधित थे जो कि सूरतगण का ही सहगण था और गदग जिले के मूलतः लक्कुंडी के पास वाले कौरूरु ग्राम से जुड़ा था। (नागराजय्या हंप.- कविवर कामधेनु : 1996 P-49, ARSIE. 1916-17. अ-9 : CE:762).

एकबार फिर साम्राज्य ने संघर्ष और सामंतिय बैर को देखा। पुलकेशि के दो पुत्रों ने अपनी स्वाधीनता की घोषणा की। तेरह वर्षों की ऐतिहासिक रात्री बीत चुकी थी। एक दशक से भी अधिक समय के लिए पल्लवों के काले बादलों ने चालुक्यों के चमकीले सूरज को घेर रखा था। वैसे पल्लव चालुक्यों को अपने साम्राज्य में मिला लेने को तत्पर नहीं थे और अपने दुश्मन को सजा देने में ही खुश थे। जब पल्लव व्यवधान डाल रहे थे तब विक्रमादित्य प्रथम के भाई चंद्रादित्य और आदित्यवर्मन चालुक्य साम्राज्य की सीमा पर, जो केंद्र से बहुत दूर था, शासन कर रहे थे।

चालुक्य सिंहासन के उत्तराधिकारी के बारे में कई भिन्न-भिन्न मत हैं, जिसकी सविस्तार चर्चा की आवश्यकता है। महालिंगम आदित्यवर्मन से विक्रमादित्य की पहचान की सलाह देते हैं। किंतु डी.सी. सिरकार और डी.पी. दीक्षित इनसे मतभेद रखते हैं। सिरकार का मत है कि आदित्यवर्मन तथा चालुक्यों की राजगद्दी के दावेदार बादामी से सूदूर प्रदेशों में शासन कर रहे थे। जबकि दीक्षित जोर देकर कहते हैं कि आदित्यवर्मन अपने पिता के जेष्ठ पुत्र होने के नाते अल्पसमय के लिए (अर्थात् दो वर्ष 642, 643-45) पुलकेशि द्वितीय का प्रथम उत्तराधिकारी बनकर सिंहासनाधिष्ठ हुआ। उसके बाद चंद्रादित्य (646-49) का शासन चला और उसने लगभग एक दशक तक शासन किया। फिर अभिनवादित्य ने (645-46) एक वर्ष तक शासन किया और अंत में विक्रमादित्य को राजमुकुट पहनाया गया। (Dikshit D.P: Political History of Chalukyas of Badami-1980:114-15).

नेलकुण्ड तथा कर्नूल ने पुलकेशि द्वितीय के प्रियपुत्र आदित्यवर्मन को 'श्री पृथ्वीवल्लभ महाराजाधिराज परमेश्वर' की उपाधि प्रदान की। यही इस बात का समर्थन करता है कि वह सिंहासन का उत्तराधिकारी था। हालाँकि विक्रमादित्य अपने पिता द्वारा चयनित उत्तराधिकारी था उसे सिंहासन के लिए नामांकित किया था। यद्यपि विक्रमादित्य ने स्वयं को सम्राट घोषित कर अपने दावे की बाजी लगाई थी और अपनी पटुता के साथ 'सर्वान दायान जित्वा'... अर्थात् अपने प्रतिस्पर्धियों को कुचलकर विजय प्राप्त करते हुए, हर दिशा में अपने विरोधियों का दमन करते हुए वह निकल पड़ा था। 'रिपु नरेन्द्रज्ज दिशि दिशि जित्वा'। आलमपुर (आंध्र प्रदेश) के शिलालेखा में उचित ही कहा गया है कि;

'वंशे महति विख्याते राजा राजीव लोचनः

नामना श्री विक्रमादित्यः क्षीरोद ज्व चंद्रमाः'

(अर्थात्, महान तथा प्रख्यात वंश में जन्मा राजीवलोचन(नीली आँखोंवाला) विक्रमादित्य ऐसा था माने क्षीर समुद्र से किसी चंद्रमा ने जन्म लिया हो।)

यद्यपि परदा ऊपर उठ गया था, और यह सही भी है कि आक्रमणकारी दलों ने वातापी को परास्त किया और पूरी तरह से लूटकर, जलाकर भस्म कर दिया था। राजधानी का सर्वनाश होने के बावजूद चालुक्यों का साम्राज्य समूल नष्ट नहीं हुआ था। उनकी विध्वंसक पराजय मात्र अस्थायी थी। अधिकतर चालुक्यों के क्षेत्र से शत्रुसेना को पीछे हटा दिया गया था। शत्रुसेना के पीछे हटने के बाद, विक्रमादित्य, सबसे पहले तो शहर को पुनर्वासित करने तथा एक नए अध्याय का प्रारंभ करने हेतु, अपनी राजधानी वापस लौटा। बादामी में विध्वंस से जो रिक्तता निर्माण हुई थी उसे विक्रमादित्य ने भर दी। प्रियतनु पुलकेशि प्रथम ने बादामी पर घिरे काले बादलों को भगा दिया और चमकते सूर्य के समान वह उठ खड़ा हुआ। भाग्य भी साहसियों का साथ देता है। ईश्वरीय अनुकंपा, साहस तथा बल पर विक्रमादित्य अपने कोश से बाहर निकला। उसके पास आकांक्षा थी और कौशल था। अपनी छोटी तथा सशस्त्र चतुर्दलिय सेना, छोटे भाई जयसिंह वर्मन तथा तीसरे पुत्र पुलकेशि का सहयोग तथा अपने नाना गंग राजा 'दुर्विनीत' के सहयोग तथा सहायता से विक्रमादित्य पल्लवों से अपने कुलबैर का प्रतिरोध लेने में सफल हुआ। यह प्रत्याघात मात्र प्रतिरोध लेने के लिए ही नहीं था। बल्कि अपने विशाल साम्राज्य की प्रतिष्ठा को पुनः प्रतिस्थापित करना भी था।

इस बार प्रभुसत्ता राजर्षी की कुदृष्टि जो तेरह वर्षों तक पल्लवों की जंजीरों में जकड़ी थी, चालुक्यों पर पड़ी। शेरदिल विक्रमादित्य प्रथम, अपने नाम के समान अपने शाही अश्व चित्रकंठ पर आरुढ़ होकर और हाथ में चमकती राज-तलवार उठाकर, चालुक्यों की जीवन-दीप्ति को अनुप्राणित करने लगा। विक्रमादित्य ने अपने पिता द्वारा कठिनाई से अर्जित साम्राज्य की रक्षा के लिए पांडूयों, कळभों, चोळों, चेरमाओंको, केरळास को छिलकर रख दिया। उसने दक्षिण समुद्र तट पर जयस्तंभ खड़ा कर दिया। उसने अपने छोटे राज भ्राता जयसिंह वर्मन को दक्षिण गुजरात, लाटदेश के वायसराय के रूप में नामांकित कर अपनी राजनीतिक चेतना तथा बोध का परिचय कराया। बाद में यही धारा एक स्वतंत्र शाखा के रूप में विकसित हुई।

विक्रमादित्य प्रथम (651-81) को युवराज बनाने के पीछे पुलकेशि प्रथम की दूरदर्शिता तथा गतिशीलता थी। उसकी माता गंग राजा दुर्विनीत की पुत्री थी। छठी सदी के अंतिम दशकों में उस पर कोगलि के जैन मंदिर के निर्माण का भार सौंपा गया। बाद में दसवीं सदी में इन्द्रनंदी ने उसे पुनः बनवाया। सातवीं सदी के प्रारंभ में पुलिगेरे में दुर्विनीत के पुत्र मोक्कर उपनाम मुष्कर के गुणांकन के लिए जैन मंदिर का निर्माण किया गया जिसे बाद में मोक्कर बसदी (610) नाम दिया गया। मोक्करा पुलिगेरे तीर्थ का एक उत्साही भक्त था।

विक्रमादित्य प्रथम ने आक्रमण का नेतृत्व किया और पड़ोसी राज्य काचिपुरम की ओर कूच की तो परमेश्वरवर्मन प्रथम ने अपने आश्रयस्थल से पलायन किया। अपने स्थान और शासन को समेकित करने के लिए विक्रमादित्य ने कावेरी नदी के तट पर बसे ऊरैयूर पर अपना पड़ाव डाला। विळन्दे के ऐतिहासिक युद्ध में भूविक्रम ने अपने शत्रु परमेश्वरवर्मन से भूल्यवान माला जीत ली जिसमें उग्रोदय रत्न जड़ा हुआ था। निर्भीक पल्लवों ने विक्रमादित्य तथा उसके पुत्र विजयादित्य के नेतृत्व में आनेवाली चालुक्य सेना का पुनः एक बार सामना किया। विजयश्री ने परमेश्वरवर्मन पर कृपा की और उसने पल्लवों के सीमा क्षेत्र उरुयुरु त्रिरचुरपल्ली के पास पेरुवला नेल्लुरु में उन पर दृढ़ता से पराजय थोप दी। पल्लवों पर चढाई के दौरान, विक्रमादित्य प्रथम, कावेरी नदी के किनारे पर स्थित जैनों के प्रसिद्ध स्थान उरुयुरु में पड़ाव डाले बैठा था। ऊरैयूर में स्थित अरहन मंदिर के नाम थे, श्री कंडपळ्ळि निक्कंड कोऱ्टम तथा निक्कंडपल्ली। अर्थात् निर्ग्रथों का गाँवा इस

ऊरैयुर कोयिल (देवालय) का जो प्रमुख उपासक था उसे उरुयुरु श्री कोयिल नायनार कहा जाता था।

विक्रमादित्य के शासन काल के दौरान चालुक्यों की गुजरात शाखा स्वतंत्र रूप से कार्यरत होने लगी। गुजरात के राज्यपाल, जयसिंह ने, विक्रमादित्य के छोटे भाई वज्रथ अथवा वज्रथ उपनाम शिलादित्य तृतीय को युद्ध में विफल किया। जिससे चालुक्यों की शान में चार चाँद लग गए। किंतु इन सारी सफलताओं में कुछ प्रतिकूलताएँ भी थीं। विक्रमादित्य को आक्रमण का कडुवा अनुभव मिल चुका था। ई.स. 678 में पल्लव राजा परमेश्वरमन प्रथम ने चालुक्यों की सेना को खदेड़कर अपने सेनापति परंजोति शिरुत्तंडर को भेजा। जो सीधे चालुक्यों की राजधानी की ओर बढ़ा और उसने वातापी को लूट लिया। चालुक्यों के राजकुमार विनयादित्य और विजयादित्य, साहसी गंग राजा भूविक्रम की सहायता से चिरुत्तोंडर को पीछे हटाने में सफल हुए और अच्छा खासा लूट का माल लेकर आखिरकार कांचि लौटे।

विनयादित्य (681-96) को ई.स. 678 में युवराज बनाया गया और वह 681 में विधिवत सिंहासनारूढ हुआ। राजाओं के राजा विक्रमादित्य ने दक्षिण और उत्तर में आक्रमण किए और समुद्रपार द्वीपों तथा प्रदेशों को अपने अधीन कर लिया। बाणों, गंगों, और शेट्टकों के समर्पण को उसने सुरक्षित रखा, जिन्होंने उसके प्रति अपनी निष्ठा दिखाई थी। गंगा-यमुना की प्रतिमा तथा पाली-ध्वज का धारक होने पर उसे बड़ा गर्व था। सत्याश्रय, श्री पृथ्वीवल्लभ, महाराजाधिराज परमेश्वर तथा श्री वल्लभ आदि राज उपाधियाँ उसे बहुत प्रिय थीं। अपनी इस विजय में उसे अपने पुत्र राजकुमार, विजयादित्य तथा भाई जयसिंह का अच्छा साथ मिला।

विनयादित्य का शासनकाल समृद्धि तथा शांति से परिपूर्ण था। कमेर (कंबोडिया), पारासिक (पेरशिया) तथा सिंहल राजाओं ने उसके सामने अपनी अधीनता का प्रस्ताव रखा। आळुपों तथा सेंद्रकों ने उसकी सत्ता स्वीकारी और वे उसके मांडलिक बने। विक्रमादित्य का जब राजाभिषेक हुआ तो उसकी आयु काफी हो चुकी थी। विक्रमादित्य, जिसमें अपने पिता की सहायता की थी तथा उत्तर भारत के अभियान में अपने शौर्य का प्रदर्शन किया था, बादामी के शासन में उसने अपेक्षा से अधिक लंबी पारी खेली थी।

निरवद्य उपनाम उदयदेव पंडित जैसे जैन आचार्य विक्रमादित्य के आध्यात्मिक मार्गदेशक थे। उसकी पुत्री तथा आळुपा के राजकुमार की पत्नी राजकुमारी कुंकुम महादेवी जैन धर्म की कर अनुयायी थी। पुलिगेरे आनेसज्जया बसति का भार उस

पर सौंपा गया था। विनयादित्य ने ई.स.709 में आनेसज्जया बसति तथा ई.स. 729 में जैन धर्मगुरु उदयदेव पंडित जी को अनुदान दिया था।

कुल मिलाकर विनयादित्य का शासनकाल (681-96) समृद्ध तथा शांतिपूर्ण था। उसके शासनकाल में संस्कृत, कन्नड, तेलुगु भाषा को प्रोत्साहन मिला। चालुक्य राजवंश में तो यह आम बात थी कि पिता के युद्धाभियान में नाते रिश्तेदार सहयोग एवं सहायता प्रदान किया करते थे। विक्रमादित्य प्रथम के पुत्र तथा प्रपौत्र क्रमशः विनयादित्य और विजयादित्य ने परवर्ती विजयों में भाग लिया। इसी प्रकार विजयादित्य और उसके परमवीर पुत्र विक्रमादित्य द्वितीय ने सहायता की थी और परमेश्वरवर्मन द्वितीय को पराजित किया और फिर कांचिपुर पर आक्रमण किया।

वास्तव में राजा विजयादित्य ने (696-733) ई.स. 708 में आनेसेज्जया बसती, जिसकी खोज उसकी छोटी बहन ने पुलिगेरे में की थी, को अनुदान दिया था जिसका उल्लेख किसी एकबंध में किया गया था। विजयादित्य की प्रिय उपाधि निरवद्य पंडित के पार्श्व में भी जैनधर्म की ही पृष्ठभूमि थी। निरवद्य पंडित उपनाम उदयदेव पंडित विनयादित्य के आध्यात्मिक गुरु थे। 729 में रणरसिक विजयादित्य ने निरवद्य पंडित को अनुदान दिया था। इस प्रकार पिता पुत्र दोनों ने अपने अपने काल में जैनमुनि तथा विद्वान पंडित निरवद्य को गौरव प्रदान किया था। राजकुमारों की तरह चालुक्यों की राजकुमारियों ने भी जैन धर्म के प्रचार प्रसार के लिए विशेष सहायता पहुंचायी थी।

विक्रमादित्य द्वितीय (733-44) 'वीरसूर्य' ने पल्लवों के विरुद्ध तीन युद्ध लड़े। जब वह युवराज था तब उसने परमेश्वरम की राजधानी कांचि नगरी पर गंग राजा श्री पुरुष के पुत्र एरेय्या (एरेयप्पा) की सहायता से आक्रमण किया। विच्छेदे के रक्तपिपासु युद्ध में श्रीपुरुष ने परमेश्वरवर्मन को मारकर 'श्वेत-छत्र' के साथ-साथ 'पेरमानडी' (पवित्र पादुका) यह शाही बीरुद छीन लिया था। जो गंग राजा की अत्यंत प्रिय उपाधि में से एक थी। पेरमानडी और इरेयातियडी का अर्थ एक समान है।

चालुक्यों ने अपना विनाशी प्रतिरोध कायम रखा और अपने दलों को तुंडक-विषय के अंदर जाने के लिए उकसाया। विक्रमादित्य ने अपने सामंत गंग श्री पुरुष के साथ मिलकर पल्लवों के अधिपत्य को छेदते हुए तथा शत्रु-देश को सफलता से रौंदते हुए नंदिपोतवर्मन पल्लवमल्ल को ई.स. 740 के आक्रमण में पराजित किया। अपनी जीत को मुकुट पहनाने के लिए उसने पराजित पल्लवों से कटु-मुख-वादित्र तथा समुद्रघोष की राज मुद्राएँ, दो असाधारण संगीत वाद्ययंत्र, खटवांग

हाथी का बैनर, और रुबी में जडे कई मूल्यवान रत्न छीन लिए। विजेता चालुक्य राजा ने पराजितों से विशाल हृदय से व्यवहार किया। उसने राजसिंहेश्वर मंदिर तथा लोगों की लूट का सारा माल वापस कर और पल्लवों का राजसिंहासन नंदिवर्म के लिए सुरक्षित कर वह बादामी वापस लौटा। पल्लवों की राजधानी कांचि के कैलासनाथ मंदिर के एक स्तम्भ पर इस श्रेष्ठ कार्य का उल्लेख किया गया है, जिससे चालुक्यों का कद और भी अधिक उँचा उठा। विक्रमादित्य का पल्लवों के खजाने को वापस लौटाने का उदारता पूर्ण कार्य एक ज्ञानी शासक होने का ही जीवंत उदाहरण है।

इसके बाद फिर कीर्तिवर्म ने पल्लवराजा के विरुद्ध युद्धाभियान किया और उसमें उसने भी विजय प्राप्त की। किंतु परवर्तियों को शांति स्थापित करने के लिए हाथी, सुवर्ण, तथा जवाहरातों की भारी क्रीमत चुकानी पड़ी। अवनिजनाश्रय पुलकेशि, गुजरात चालुक्य वंश के राजा तथा विक्रमादित्य के चाकरों ने ताजिकों (अरब) को अरबों को दबाने के लिए मजबूर किया तथा दक्षिण में घूसने से रोक दिया।

विक्रमादित्य के युग कल्प को मंदिरों की दीवारों पर उत्कीर्णित किया गया था। उसने खंड-स्फुटित-जीर्णोद्धार में विशेष रुचि ली थी।

विजयादित्य का पुत्र तथा उत्तराधिकारी विक्रमादित्य द्वितीय (733-44) ने ई.स. 733-34 में पुलिगेरे के धवल जिनालय को अनुदान दिया था। पुलिगेरे साम्राज्य का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र, जैन मंदिरों का केंद्र स्थान और समृद्ध मंदिर था। उनमें से कुछ प्रमुख जिनमंदिरों का उल्लेख शिलालेखों में हुआ है। परवर्ती चालुक्यों के शासन काल में चौळों द्वारा आनेसेज्जया बसति तथा धवल जिनालय समेत सभी जैन मंदिरों को नष्ट किया गया था। विद्यमान दो जैन मंदिर, चाहे जिनके नाम प्राचीन क्यों न हो पर संभवतः प्राचीन जैन मंदिरों की रचना का ही प्रतिरूप है, जिनका निर्माण ग्यारहवीं सदी के मध्य किया गया था।

पुलिगेरे बेलवोल 300 की राजधानी थी। उसके पास का ही एक शहर अण्णिगेरे भी महत्वपूर्ण शहरों में से था, जहाँ जैनों का उपनिवेश था। 751-52 के एक स्तंभ पर उत्कीर्णित लेख में जेबुरळगेरि के अधिकारी कलिमय्या द्वारा अण्णिगेरे में एक चैत्य, जैनमंदिर के बनवाने का उल्लेख है।

राजा विक्रमादित्य ने जब रक्तपुर में पड़ाव डाला था तब उसने जिन की प्रार्थना करने के लिए जमीन दान में दी थी। रक्तपुर (अर्थात् किसुवोळल अर्थात् पट्टदकल) जैनों के महत्वपूर्ण प्रार्थना मंदिरों में से एक है।

विक्रमादित्य द्वितीय का पुत्र कीर्तिवर्म (745-57) तथा रानी लोकमहादेवी चालुक्य राज सिंहासन के उत्तराधिकारी बनें। वातापी के शासकों की पंक्ति में आने वाला वह आखरी शासक था। उसने युवराज के रूप में पल्लवों पर आक्रमण के दौरान अपनी वीरता सिद्ध की थी। नंदिवर्म को उसने ऐसी धूल चटायी कि उसे भागने पर विवश होना पड़ा। फिर उसने हाथी तथा जवाहरात आदि अपने कब्जे में ले लिये और उसे अपने पिता को उपहार स्वरूप दिया।

उसके शासन काल का प्रथम दशक शांतिपूर्ण था। उसके बाद जो भी हुआ वह उसकी प्रभुसत्ता के विरुद्ध हुआ। जिससे साम्राज्य का खात्मा ही होने लगा। पल्लवों के विरुद्ध लगातार युद्धों के दुराग्रह से राजनीतिक तेज ही नष्ट हो गया। दुश्मन, जो अंधेरे में घात लगाकर बैठे थे और अवसर की ताक में थे, से निर्बल राजतंत्र का शोषण होने लगा। आळूप राजपाल आलुवरस द्वितीय ने विद्रोह किया और पल्लवों के नंदिवर्मन से हाथ मिलाकर, उदयचंद्र के नेतृत्व में सेना अभियान में सहभागिता की।

उसके शासनकाल के दौरान जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, अण्णिगेरी में जिन को समर्पित मंदिर बनाने को उत्प्रेरित किया।

कीर्तिवर्म द्वितीय (744-55) के कार्यकाल में धार्मिक-सांस्कृतिक गतिविधियाँ काफी मात्रा में हुआ करती थी। गंग के मांडलिक श्रीपरुष ने कीर्तिवर्म के प्रति अपनी निष्ठा दिखाई थी। स्वामी तथा सेवक ने लगातार चार बार छापा मारा पर चौथी बार का छापा अशिष्ट सिद्ध हुआ। अब विरोधियों की बारी थी और वे भी जैसे को तैसा की सीख देने के लिए तैयार थे। वेणबै के पं । राजा मारवर्मन राजसिंह प्रथम (730-65) ने चालुक्यों की सेना दलों को पछाड़ दिया। लेकिन दिलचस्प बात यह थी कि यह मारवर्मन राजसिंह के पुत्र जटिल परांतक नेडुंजडियन (756-815) का विवाह गंग की राजकुमारी के साथ संपन्न हुआ और एक मैत्रीपूर्ण वातावरण का निर्माण हुआ। किंतु फिर भी आठवीं सदी के मध्य में राजनीतिक रिक्तता को देखा गया।

चालुक्यों की इच्छानुसार जब सबकुछ चल ही रहा था कि तभी आठवीं सदी के उत्तरार्ध में एक और स्वदेशी शक्ति के पुरुत्थान का संकेत होने लगा।

राष्ट्रकूटों की मानपुर शाखा को चौथी तथा आठवीं सदी के मध्य प्रारंभिक सफलता तो मिली किंतु वे टिककर नहीं रह पायी। इसका कारण था नलों तथा मौर्यों की दुराग्रही चुभन तथा चालुक्यों का भीषण आक्रमण। साम्राज्य ने जो यश

पाया और संजोया था वह सब ध्वस्त हुआ और लगभग दो सौ साल की लंबी अवधि के लिए वातापी राजा की दीप्ति को ग्रहण लगा।

किंतु राष्ट्रकुट तो अंधेरे में घात लगाकर बैठे थे अपने राजनीतिक पांडित्य तथा जोश से प्रतिघात करने योग्य अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे और राष्ट्रकूटों से एक गंभीर ऐसा वार हो ही गया। राजनीतिक होड़ में राजधानी पर कब्जा करने, उसकी कलई करने तथा उसका कायाकल्प करने तथा स्वतंत्र होने के लिए दंतिदुर्ग ने चालुक्यों को कुचल ही दिया। राष्ट्रकूटों के राजकुमार दंतिदुर्ग ने (735-36) विरुमादित्य द्वितीय से उसके प्रतिष्ठित बिरुद पृथ्वीवल्लभ तथा खडगवलोक छीन लिए गए। नवसारी तथा बादामी की प्रमुख शाखा के चालुक्यों का दमन किया, कीर्तिवर्म को हताश किया। जाहिर है कि आवश्यकता कानून नहीं जानती। जब राष्ट्रकूटों का सूरज चमक रहा था तभी फसल भी काटनी आवश्यक थी। अतः दंतिदुर्ग के चाचा कृष्ण प्रथम ने (756-74) कीर्तिवर्म को हराया और चालुक्यों की राजधानी को लूटा।

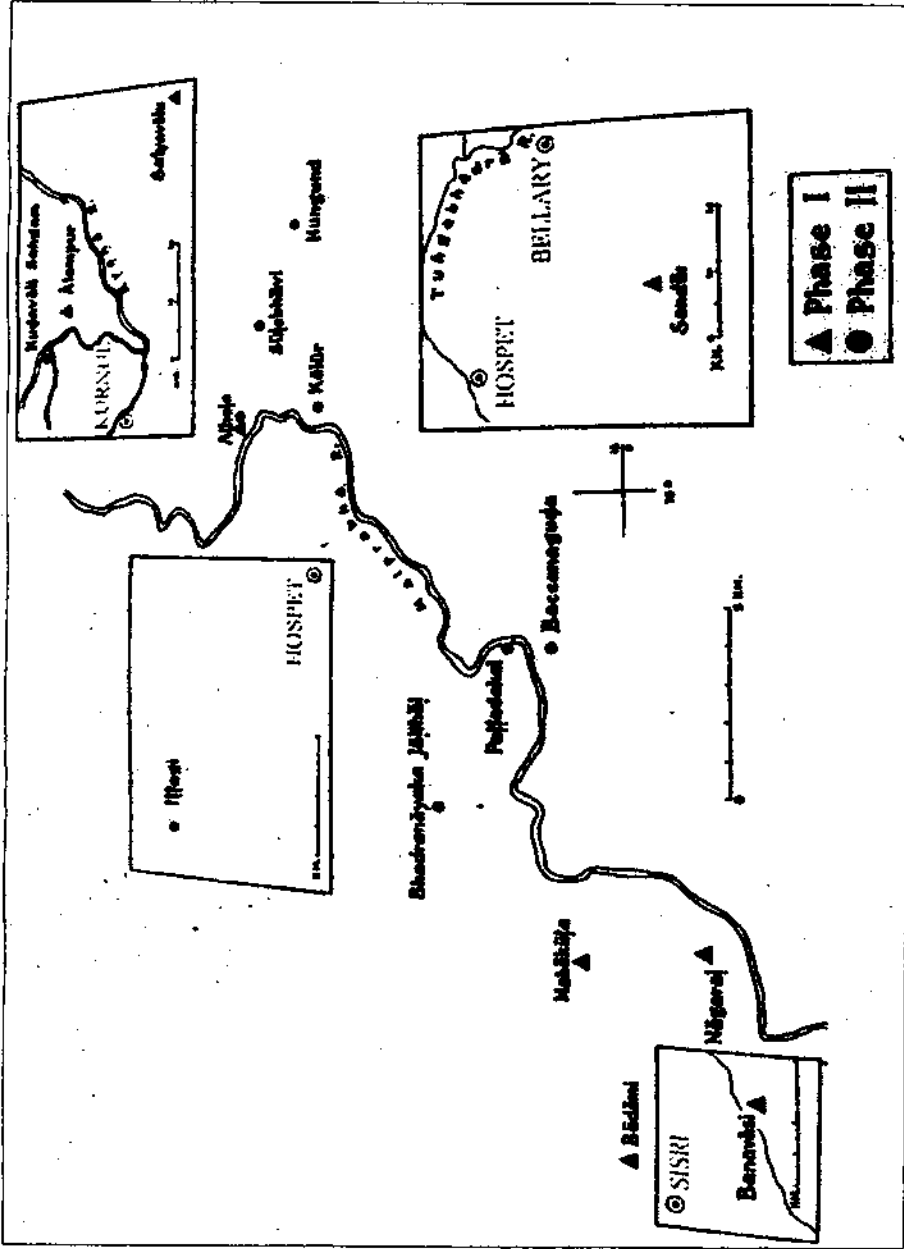
उचित दंड देने हेतु, प्रतिकार के लिए द्वारों को खुला देखकर उन्होंने बादामी चालुक्यों का दमन करने के लिए पुरुषोचित आघात किया और महान राष्ट्रकुट साम्राज्य के लिए शुभ शकुन ही हुआ। आठवीं सदी के उत्तरार्ध में बादामी का प्रभाव खत्म हुआ और उनके सारे राजतंत्र को नए साम्राज्य में विलीन कर दिया गया जिससे दक्षिण में एक अनन्य महासाम्राज्य का निर्माण हुआ।

कीर्तिवर्मन द्वितीय (745-87) चालुक्यों का अंतिम प्रतिनिधि शासक था। उसके शासन के अंत में राष्ट्रकूटों ने बाहुबल जुटाया था। दंतिदुर्ग ने यह सिद्ध किया कि चालुक्यों का मुर्गा अब कभी नहीं लडेगा। उसने अपना लोहा सिद्ध किया और गुर्जर, कोसल तथा कलिंग राजाओं का दमन किया। इस प्रकार दंतिदुर्ग ने कीर्तिवर्मन के हाथ बांधे और चालुक्यों की राज्यश्री छीनकर, उनका राजसिंहासन खाली कर, स्वयं को प्रभुसत्तासंपन्न शक्तिशाली राजा के रूप में घोषित किया।

राष्ट्रकूटों के लिए अंधेरे से निकलकर समृद्धि तक पहुँचने के वे प्रारंभिक दिन थे अतः चालुक्यों को उपेक्षित राजनीतिक अवस्था में प्रतीक्षारत रहना लाजमी था। चालुक्यों का अध्याय यहीं खत्म नहीं हुआ था। कुछ समय के लिए भाग्य का चक्र उलटा घूमा था और विडंबना यह थी कि फिर उन्हें अपनी बारी के लिए लगभग दो शताब्दियों तक अज्ञातवास में रहना पड़ा। तथापि चालुक्यों का राजनीतिक-सामाजिक व्यक्तित्व एकदम से खत्म हुआ।

उस समय चालुक्य साम्राज्य दक्षिण के विशाल साम्राज्यों में से एक था। वे उत्कृष्ट ऐसे संवर्धक कर्णधार थे और यह उस जमीन की संस्कृति की जैसे देन थी जो राष्ट्रकूटों को प्रमुखता से विरासत में मिली थी। सकल कर्नाट देश उनके उदार श्वेत छत्र के नीचे लाया गया। कला, शिल्पकला तथा सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र उनका चिरऋणी रहेगा। उनकी उपलब्धियाँ उनके प्रभुसत्ता की सांस्कृतिक धरोहर ही रही। उनके प्रश्रय में चालुक्यों ने जैन संघ तथा शिल्पकला के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

सर्वदेशिय सांस्कृतिक केंद्र के प्रतिकूल में जहाँ कला, शिल्पकला तथा साहित्य का प्रचुर मात्रा में संरक्षण हो रहा था और जैन धर्म के साथ-साथ अन्य धर्मों का भी एक साथ विकास हो रहा था, ऐसे समय सहिष्णुता बनाए रखने में चालुक्यों का बहुत बड़ा हाथ था। पुरातात्विक तथा शिलालेखिय साक्ष्य यही बताते हैं कि तत्कालीन आबादी का एक बहुत बड़ा हिस्सा जैनों से समाविष्ट था। अधिक मात्रा में उपलब्ध शिलालेखिय तथ्य यही बताते हैं कि इस अवधि में कला, शिल्पकला तथा साहित्य को जैनियों ने विशेष रूप से प्रोत्साहित किया। उत्कीर्णित लेखों में राजतंत्रों के शासन का हमेशा उल्लेख किया गया है जो इन स्मारकों से संबंधित थे। राजधानी से दूर मंदिर का उत्तरदायित्व हमेशा स्थानीय मांडलिकों, उनके परिवारवालों तथा व्यापारियों पर था। जैन कला का विस्तार अभिव्यक्ति की एक नयी धारा का अन्वेषण कर रहा था और मूर्तिकला की परंपरा की रचना कर रहा था। जैन कला, राज परिवारों के संरक्षण में पोषित होकर तीव्र गति से विकसित हो रही थी और चालुक्य के साम्राज्य के नगरों तथा शहरों में रच-बस गई थी। भारतीय साँचे में जैन शिल्पों तथा प्रतिमाओं ने आंदोलन का कायाकल्प किया। आदि कदंबवाडी तथा गंगवाडी को जब साथ साथ रखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन शिल्पों में चालुक्य अत्यंत समृद्ध थे।



Kuntaladesa and Vengidesa : Chalukya Sites Phases I and II (courtesy: EITA)

अध्याय चार

सामंतशाही

प्रस्तावना

शाही साम्राज्यों का सामंतों तथा छोटे राजवंशों पर अपना स्वामित्व जताने की प्रवृत्ति का सावधानी से परिक्षण करना आवश्यक है। सच है कि चालुक्यों का शासनकाल भारतीय इतिहास के वृतांत में अत्यंत वैशिष्ट्यपूर्ण रहा है और यह भी उतना ही सत्य है कि उनके सामंतों की भूमिका का भी विशेष उल्लेख होना भी जरूरी है।

राजा का प्रभुत्व तो होता था पर वे शासन नहीं किया करते थे। अतः उनके अधिकृत मातहती सामंतों को विभिन्न विभागों का प्रभारी बना दिया जाता था ताकि वे उस विशिष्ट क्षेत्र को नियंत्रित रखकर शासन करें। प्रांतीय राजपाल राजाओं का प्रतिनिधित्व किया करते थे। अतः उनके पास शासकीय शक्ति हुआ करती थी। सामंतशाही राजाओं की सम्मति होने के कारण सारे सामंत राजा की मर्जी से ही चुने जाते थे। महामंडलेश्वर और महासामंत समान ही होते थे, जो राजाओं को विशिष्ट प्रदेश तथा साम्राज्य के अधिकारियों की श्रेणीबद्धता में आने वाले महामंडलेश्वर इस शब्द का यही अर्थबोध होता है कि वह व्यक्ति मंडलों की देखभाल करनेवाला अनुभवी प्रमुख सामंत होता

था। सामंतों ने कई बार ऐसा महसूस किया कि उनका अलिप्त रहना असंभव है और राजनीतिक लड़ाई झगड़े की दलदल में खींच लिया जाता था।

मांडलिक तथा सामंत क्रमशः महामांडलिक तथा महासामंत के छोटे रूप ही थे। अंग्रेजी के रायल, ड्युक, पालटिन, आदि शब्द चाहे प्रशासनिक प्रमुख का अर्थ देते हैं किंतु इनमें से कोई भी शब्द मांडलिक का सही अर्थ नहीं ग्रहण कर सकता। फिर भी किसी तरह इतिहास में इन शब्दों का प्रयोग होता आया है और आज तक वे शब्द प्रयोग में हैं।

मंडल, विषय तथा नाडु भी एक-समान अर्थ देते हैं और उनकी तुलना आधुनिक जिले की परिकल्पना के साथ की जा सकती है। तथापि मंडल, विषय तथा नाडु का सीमा क्षेत्र छोटा-बड़ा हो सकता है। विषयाधिकरण उपनाम विषयाधिपति मंडलिपति के सादृश्य था। बेळवोल विषय तथा सांतळिगनाडु चालुक्य साम्राज्य का ही हिस्सा था। देहात प्रशासन की छोटी सी ईकाई गाँव था और ग्रामभोगिक (गामुंड तथा करणिक के समान) इस इकाई का प्रभारी था। महाजनों की सामूहिक इकाई पर हर समुदाय के बुजुर्गों से बनी थी इसमें व्यापारी संगठन भी मिला था जो लोगों की सुरक्षा तथा कल्याण का वादा करता था।

युद्ध तथा शांति के दौरान चालुक्यों, सामंतों तथा मांडलिक ने अपने स्वामियों के प्रति निष्ठा रखी और सहयोग भी दिया। चालुक्यों की राजप्रतिष्ठा का अधिग्रहण और पुनःअधिग्रहण सफलता से प्राप्त करने का रहा है। तत्कालीन कर्नाटबल की शक्ति इतनी तेज और तीक्ष्ण थी कि उसका अनंत और अजेय कहकर वर्णन किया गया है। इसके लिए सामंति दलों की भूमिका को धन्यवाद देना होगा। उन्होंने नए उदीयमान साम्राज्य को फूलने फलने हेतु एक सुरक्षित छत्र दिया। सामंत राजाओं के दलों ने शाही चालुक्यों की सेना का जो हरावल (सेना) तैयार किया वह काफी बुद्धिग्राह्य था। अतः उनकी भूमिका की पहचान करना आवश्यक है और एक छोटी सी बात को रेखांकित करना हो तो यही कि उस युग के सभी सामंतों की राजभाषा कन्नड़ थी और यह भी नोट करना आवश्यक है कि अधिकतर सामंत जैनधर्म में विश्वास करते थे।

4 अ) आळूप सामंत-

राजवंशों तथा प्राचीन योद्धा आळुपों ने आळुवखेड या तुळुनाडु (दक्षिण केनरा) प्रदेशों पर चौथी शताब्दि के पूर्वार्ध से लेकर चौदहवीं के उत्तरार्ध तक शासन किया।

यह राजवंश इनसे भी बहुत पुराना है; कारण, ग्रीक भूविज्ञानी (150) ने आळुवखेड का ओलोखोर के नाम से उल्लेख किया था। इसके अलावा पशुपति, प्रसिद्ध हल्मडि में उत्कीर्णित शिलालेख में जिसका नाम आता है, आळुपागण से ही जुड़ा था जो कि कदंबों पर आश्रित था।

चालुक्यों के सामंतों में आळुपों ने उतना ही सम्मान का स्थान पाया जितना कि गंगों ने राष्ट्रकूटों के शासनकाल में पाया था। चित्रवाहन प्रथम (680-730) चालुक्यों के राजतंत्र की संपन्नता का साधन था। चालुक्य राज्याभिवृद्धि हेतुभूतः। शिर्गाव से ताम्रपत्र पर उसके उन्नत व्यक्तित्व का इस प्रकार वर्णन किया गया है—सकल लोक विदित महाप्रभावः। उसके अनन्य असाधारण त्याग और औदार्य के कारण चित्रवाहन का साम्राज्य पर विशेष प्रभाव था। महाराजा विजयादित्य? के युद्धों में उसके सामंत चित्रवाहन के ओजस्वी भूमिका की भूरी भूरी प्रशंसा शिलालेखों में अंकित है। स्वकरतल विधृतनिर्दिशं—संघात—वित्रस्त—विशिर्यमाणानेक—रिपुनृपति—मत्त—मातंग संघातः ने मत्त गर्जों अर्थात् शत्रु राजाओं को अपने चमकते खड्ग से पराजित किया। जिससे चित्रवाहन को राजा का दामाद बनने का सम्मान दिया गया था।

शिर्गाव का ताम्रपत्र चित्रवाहन का वर्णन इस प्रकार करता है, “पां तमलत कुलं अलंकुरवाण” अर्थात् जिसने निर्मल पांडुकुल को सुशोभित किया। मानक ऐतिहासिक विवरण के अनुसार भूताल, पांडु वंश परंपरा के जो गोवा, कर्नाटक और केरल समेत पश्चिमी घाट पर विशेष रूप से फूली-फली इस पर विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है। इतिहासकार मानते हैं कि उपर्युक्त राजवंशों ने दक्षिण केनरा में अळिय-संतान-कट्टु तथा केरल में मरुमकत्तायम प्रथा की शुरुवात की। भले ही उनकी वंश परंपरा पर रहस्य की चादर ओढ़ा दी गई हो फिर भी उनका क्रम निम्नलिखित है—

(जय) भूतल पांडूय -78-152

विद्यमन पांडूय -153-229

वीर पांडूय -230-62

चित्रवीर्य पांडूय -263-81

देववीर पांडूय -282-316

जयवीरा पांडूय -317-43

उपर्युक्त सूची में चित्रवीर्य और वीर पाण्डु के नाम आळुपाओं के समान वंश

परंपरा का स्मरण कराते हैं। इस प्रकार पांडूयों की परंपराओं के गर्भ में इतिहास का बीज धारण करती हैं और बुद्धि भी परंपराओं की वैधता का पुनःविचार करने की सम्मति देती हैं। इस प्रकार राजनीतिक नक्शे पर आळुपाओं का आगमन भूतलों के तुरंत बाद हुआ था। पांडूय राजवंश इसमें विलीन हो गया। तथापि बनवासी के पूर्ववर्ती कदंब रविवर्म (485-519) के प्रकट रूप से अधीनस्थ हो गए। बाद में बादामी के चालुक्यों की अधिराजता को आलूप्यों ने संभाला। महाकूट में स्थित मंगलेश (610-42) के स्तम्भ लेख और 634 में ऐहोळे में ख्यातनाम जैन कवि रविकीर्ति द्वारा संरचित पुरालेखों में यह उल्लेख किया गया है कि आळुपाओं का परिवार अधीनस्थ परिवारों में से एक था। तथापि यह एक रिवाज हो गया था कि आळुपाओं का वंश-वृक्ष आलुवरसा प्रथम (650-63) से खोजते खोजते जाय, जो अधिपति विक्रमादित्य का अतिविश्वासपात्र सामंत था। वह अलूवखेड (तुळुनाडु), कदंब मंडल और संतरों के पोम्बुका प्रदेश का वायसराय था। कदंब मंगलेश की पटरानी अलवरसा की पुत्री थी। ताम्रपत्र पर अंकित लेख के अनुसार आळुवरसा मारुटूरु से गुंटुर जिले में स्थित कल्लूर के अभियान पर अपने सामंताधिपति की प्रार्थना से जा रहा था कि ई.स. 663 में अति थकान के कारण मृत्युमुखी पड़ गया। आलूपा ईडेवोळल तथा तोरमार विषय के प्रमुख थे।

आळुवखेड 6000 की प्रसिद्ध उक्ति पहली बार राष्ट्रकूटों के शासनकाल में अवतरित हो रही थी। जो तुळुनाडु प्रदेश का बोध कराती है। इंदपय्या को आळुवखेड 6000 जिले का प्रभारी बनाया गया। इस ऐतिहासिक तथ्य के अलावा कुछ भी रिकार्ड तुळुदेश के राष्ट्रकूटों से नहीं आया। तुळुनाडु और आलूपा एक ही सिक्के के दो पहलू थे। लगातार बारह शताब्दियों तक उन्होंने आळुपाओं की कप्तानी से ज्वार-भाटे को देखा था। इस प्रकार आळुपाओं का इतिहास ही तुळुनाडु का इतिहास है।

तब भी आळुपाओं का क्रम राजा आलूपेंद्र तथा रानी महादेवी के पुत्र राजकुमार चित्रवाहन (680-730) के आगमन से चौंका देनेवाला था, जिसने छः दशक से भी अधिक लंबी अवधि तक शासन किया। उसने आळुपाओं के ऐतिहासिक वृत्तांत में एक स्वर्णिम अध्याय का शुभारंभ किया और उसने पाण्ड्यों के विद्रोह को रोककर अपने अधिपति की प्रशंसा अर्जित की। चित्रवाहन को मुक्तहस्त से सम्मानित किया गया। सम्राट विजयादित्य की छोटी बहन कुंकुम महादेवी से उसका विवाह हुआ। चित्रवाहन ने अपने पिता के समान कदंब मंडल तथा पोंबुच्च राज पर शासन किया।

चित्रवाहन तथा कुंकुम महादेवी के पुत्र इम्मडी अळुवरस (730-65) के कार्यकाल में प्रभुसत्ता के साथ साथ संबंधों के बीच का सौहार्द भी खत्म हुआ। चालुक्यों ने मनमुटाव के कारण, आळुपाओं का कदंब मंडल तथा पोंबुच्च भाग से हटा दिया। इस द्वेष ने एक दूसरे को तोड़ दिया और हताश आळुपा कांचिपुर के पल्लवों के सामंत बने।

तथापि, आलुवरसा द्वितीय के निधन ने शत्रुता को दफनाया और पुनः दोनों के मध्य मैत्री संबन्ध निर्माण हुए। उसके पुत्रों, चित्रवाहन द्वितीय (765-800) और रणसागर (765-805) को पोंबुच्च तथा तुळुनाडु का प्रभारी बनाया गया। चालुक्य तथा राष्ट्रकूटों के रत्तरंजित युद्ध में दोनों भाई तथा चित्रवाहन के द्वितीय पुत्र श्वेतवाहन ने अपने प्राण गँवा दिए। जोर-जबरदस्ती से आळूप विजयी राष्ट्रकूटों के सामंत बने और गोविंदा तृतीय के शासनकाल में पोंबुजा को हमेशा के लिए दिया।

उदयपुर (उद्यावर), मंगलापुर (मंगलूर), पट्टि पोंबुच्चपुर (होम्बुज, हुमचा) और बनवासी पूर्वी आळुपाओं तथा आळुपाओं के महत्वपूर्ण शहर थे। सांतरों और आळुपाओं तथा आळुपों और चालुक्यों के मध्य विवाह आदि प्रचलित थे। विद्यमान स्मारक यह दर्शाता है कि पोंबुचा के जैन स्मारकों के पूर्व निर्माता आळुपा थे और इसके वैशिष्ट्य का श्रेय चित्रवाहन की पट्टमहिषी कुंकुम महादेवी को जाता है। ऐसा माना जाता है कि बोगार बसदी तथा होंबुजा में विद्यमान अंबिका की दो प्राचीन प्रतिमाओं को बनवाने का कार्य आळुपाओं से ही किया गया था।

जीवन के उतार चढ़ाव के मध्य आळुपाओं ने लगभग 1200 वर्षों के लंबे समय तक शासन किया। कभी स्वतंत्र रूप से और ज्यादातर अधिनस्थ रहकर संभवतः भारतीय इतिहास का यह सबसे अधिक लंबा काल रहा है। उन्होंने राजनीतिक मुकुट का सूत्रपात कदंबों से बहुत पहले से ही कर लिया था और कदंबों, गंगों, चालुक्यों, राष्ट्रकूटों, कलचुरियों, शणों तथा होयसळों का उत्थान-पतन भी देखा था।

4 आ) बाण वंश-

बाण, प्राचीन राजवंशों में से एक हैं, जिन्होंने कोलार जिले के कई भागों तुमकुर जिले का कुछ भाग और गूती और जम्मलमडगु क्षेत्र को समेटता तुरमर-विषय आदि पर शासन किया। जो आंध्रदेश के अनंतपुर जिले से जुड़े हुए थे। एक बार तो उनका क्षेत्र कर्नूल जिले में श्रीपर्वत तक खींच गया था। उनके द्वारा शासित प्रदेश को एळुवरे-लक्ष नाडु अर्थात् साढे सात लाख का प्रदेश कहा जाता

है। प्राचीन तमिल, संस्कृत तथा प्राकृत कृतियों में (वर्तमान युग पांचवीं सदी) बाणों का संदर्भ आता है। इलंगों-अडिगल द्वारा रचित तमिल कविता शिल्पादिगारं में बाणों का उल्लेख हुआ है। सर्वनंदी का लोकविभाग (458 पांचवीं सदी) ब्रह्मांड दर्शन पर आधारित निर्ग्रंथ को मूलतः प्राकृत में पाटलिक (तिरुप्पाटिरिप्पुलियूर अर्कोट जिले के उत्तर) में लिखा गया था। जिसमें बाणों के बारे में जानकारी दी गई थी।

800 साल के लंबे इतिहास में सातवाहनों से लेकर विजयनगर तक बाण सामंत थे। सामंतों के निर्गमन के बाद वे पल्लवों के प्रभाव में आ गए। पाँचवीं सदी में मरुगरेनाडु तथा छठी सदी में पुदलनाडु राष्ट्र पर सातवीं सदी में तुरमार वेंगनूर विषय और आठवीं सदी में (गुत्ति) कैवारा विषय पर वे शासन कर रहे थे। कुछ समय के लिए बाणों को कदंबों की भी सहायता करनी पड़ी। जब वे मयुराश्रम (कदंबकुलका मूलपुरुष) से हार गए। किंतु शीघ्र ही बाण गंगों के प्रमुख सामंत बने। माधव प्रथम से लेकर गंगों के शासन के अंत तक, बाण उनके निष्ठावान सेवक बने रहें और उनसे सौहार्द बनाए रखा। बनवासी पन्निर्छासिर तथा गंगवाडी तोंबतअरुसासिरा की उक्ति के सदृश 950 में मुलबागिलु (कोलार जिला) के पुरालेख में बानरवाडि पन्निर्छासिर (अर्थात् बाणवाडी 12000) का उल्लेख किया गया है।

बादामी के चालुक्यों के शासन के दौरान बाणों ने स्वेच्छा से गंगों को सहायता पहुँचायी जो उनके पहले राजा थे। उल्लेखनीय है कि वे पुलकेशी द्वितीय के साथ खड़े रहें जब वह चालुक्यों के सिंहासन पर स्वयं को स्थापित करने के लिए मंगलेश से लड़ा था जो कि उसका विधिसंगत दावा था। पुलकेशि को अपने सैन्य का समर्थन देकर बाण उसके दक्षिण के अभियान में जुड़ गए। फिर वे विक्रमादित्य प्रथम की सहायता के लिए दौड़ पड़े जब परवर्तियों ने पल्लवों के विरुद्ध युद्ध घोषित किया। बाणों का प्रमुख भूविक्रम बाण विद्याधर बड़े जोश से लड़ा और कई स्थानों पर पल्लवों के दलों को धूल चटाई। महाभट विक्रमादित्य गौड की निर्भीकता से खुश होकर बाण विद्याधर ने उसे कोलार जिला तथा तालूका का एक गाँव बिदरूरु बख्शिाश में दे दिया।

जब राष्ट्रकूटों ने चालुक्यों का दमन किया तब बाणों ने अपनी सार्वभौमिकता दिखाई। जबकि इसके बिल्कुल विपरीत शाही राष्ट्रकूटों के काल में गंगों तथा बाणों के बीच सौहार्द खत्म हो चुका था। नंदी में स्थित भोगनंदेश्वर मंदिर बाणों का उत्कृष्ट स्मारक है। बन राजा की पटरानी रत्नावती द्वारा इस महान मंदिर का शिखर बनवाया गया था। राष्ट्रकूटों के पतन के बाद गुलबर्गा जिले के काळगी विभाग के खांडव

मंडल के प्रभारी बिम्बरस तथा गोणकरस को छोड़कर राजनीतिक परिदृश्य से बाण भी जैसे गायब हो गए।

बाणों का राजचिह्न था वृषभा महावली, महाबली, महावली, ब्रह्म बाण आदि बाणों के परिवार के भिन्न नाम थे। गंग राजा श्रीपुरुष के शासन में मरुगरे-विषय पर बाणों ने अपनी पकड़ खो दी तथा केल्लों के सियगेल्ला मरुगरे (अर्थात् मरुकर) के प्रदेश पर शासन कर रहा था।

सगर (मणलेरा) परिवार के राजकुमार मरुवर्म का पुत्री राजकुमारी कुंडाच्ची, निर्गुंड प्रदेश पर शासन करनेवाला बाण राजा निर्गुंडराज उपनाम परंगूल की महारानी थी। कुंडाक्की जिन की कट्टर भक्त थी, जिसे श्रीपुर के लोकतिलक जिनालय का आयुक्त नियुक्त किया गया था। उक्त मंदिर विश्व स्तर के उत्कृष्ट मंदिरों में से एक है। परंगुळ उपनाम पृथ्वी निर्गुंदराज के अनुनय विनय पर, प्रसिद्ध श्रीपुरुष (725-88) जब मण्णे (मान्यपुर) विजयाभियान कर रहा था तब लोकतिलक जिनालय में जिन की पूजा आदि के लिए पोन्नळ्ळि ग्राम, उपजाउ जमीन, मकान तथा जमीन (निवेशन) आदि दान में दिया था। (A History of Early Ganga Monarchy and Jainism-1999:22-23).

4. इ) भोज (भोजक)

भोजों का उल्लेख पहले ऋग्वेद (III 3.7) में और उसके बाद ऐतरीय ब्राह्मण में है। यह वंश दक्षिण का है। पुराणों में यह भी दर्ज है कि भोज, सातवातों के साथ भी जुड़े हुए थे जो महाभारतकालीन प्राचीन जाति (कुल) से संबंधित थे और आधुनिक मध्यप्रदेश में रहा करते थे। परंपरा से भोज हैहया की पाँच शाखाओं में से एक थे। महाकवि कालिदास ने अपने महाकाव्य रघुवंश में यह उल्लेख किया है कि भोज विदर्भ का राजा था। जैन साहित्य में भी भोजों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि भोज विदर्भ का राजा था। जैन साहित्य में भोजों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि ऋषभदेव के काल में भोज सम्मानित क्षत्रिय (योद्धा) थे। राजकुमारी राजमति जो युवराज नेमीनाथ (22 वें तीर्थंकर) की पत्नी होने वाली थी, इस परिवार में ही जन्मी थी।

संक्षेप में, भोजों की ऐतिहासिकता पर विचार करते समय, जो अशोक के अभिलेखों में महाभोज के रूप में पहचाने जाते थे, दक्षिण में आदि कदंब तथा बादामी राजाओं के शासनकाल में प्रमुख रूप से उभर कर आते हैं। भोज अधिनस्थ

अधिकारी थे जो मुख्यतया गोवा तथा कोंकण प्रदेश के प्रभारी थे। राजा काकुत्स्थवर्म (435-55) के शासन काल में भोज पहली बार नजर आते हैं, जिसने अपने जैन सेनापति को परवर्तियों के साहस कार्य, जिससे पूर्ववर्तियों की जान बच गयी थी की खातिर पुरुखेटक ग्राम दान में दे दिया था।

कर्नाटक देश के छोटे बड़े राजवंशों के इतिहास में आनेवाले, सम्मानित सेनापतियों की पंक्ति में श्रुतिकीर्ति (लगभग पाँचवी सदी के मध्य) सबसे प्राचीन ख्यातनाम सेनापति रहा है। रोचक बात यह है कि संयोग से यह सुरक्षा अधिकारी जैन था। पुरुखेटक ग्राम-दान के संदर्भ में यह बात उल्लेखनीय है कि इस अनुदान का समय समय पर पुनःनवीकरण कर दिया जाता था। आदिकदंबों के राजा शांतिवर्म और उसके पुत्र मृगेशवर्म दोनों ग्राम दत्ति (ग्राम-दान) की नवीकरण किया करते थे और साथ ही साथ उसको उन्होंने जीवित भी रखा। पुरुखेटक ग्राम पुनरदत्ती के रूप में फिर एकबार दामकीर्ति की माता को दान में दिया गया, स्पष्ट है कि दामकीर्ति श्रुतिकीर्ति का पुत्र ही था। पुनःनवीकरण की यह प्रक्रिया वहीं रुकी नहीं। बल्कि मृगेशवर्म (458) के पुत्र राजा रविवर्म के काल में भी जारी रही जिसने इस दान का पुनःनवीकरण किया और जयकीर्ति को सौंप दिया। जयकीर्ति, प्रतिहारी अथवा द्वारपाल अथवा राजा का विदूषक था। संभवतः जयकीर्ति दामकीर्ति का पुत्र था। ऐसा लगता है कि भोजों का उपनाम प्रतिहारी रहा होगा। रविवर्म के हलसि ताम्रपत्र पर एक और भोजक पंडर नजर आते हैं। भोजक मुख्यतया आदि कदंबों के सामंत थे। हालाँकि भोज चालुक्यों के युग तक भी चलते रहें। इसका प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं है। भोजक दामकीर्ति, मृगेशवर्म का सेनापति, एक लेखक भी था, उसने अपने अधिपति के तीसरे शासन वर्ष ई.स. 458 में देवगिरी शिलालेख लिखा था। यह राजा मृगेश द्वारा दान में दी गई 33 निवर्तनों के जमीन का प्राप्तकर्ता था फिर परवर्तियों ने वहाँ उसके पिता, काकुत्स्थवर्म के पुत्र शांतिवर्म की स्मृति में पलाशिका जिनालय का निर्माण किया।

रज्जुकों, गामिकों तथा रठिकों की तरह भोजक अधिकारी वर्ग से संबंधित थे। जबकि वणिक तथा लेखक व्यावसायिक पद थे।

4. ई) कैकेय / केकय

पूर्वी कदंबों के शासन में कैकेय का उनके सामंत राजा के रूप में उल्लेख है और दोनों परिवारों के मध्य वैवाहिक संबंध भी थे।

शिवासखंड वर्म, संभवतः राजवंश के महत्वपूर्ण प्रथम नेता थे और विंध्य राजपरिवारों से वैवाहिक संबंध जोडा करते थे। प्रभावती, मृगेशवर्म की (455-80) महारानी कैकेय परिवार की राजकुमारी थी और मृगेशवर्म का पुत्र रविवर्म (485-519) इसी रानी से पैदा हुआ था। मृगेशवर्म के चाचा राजा कृष्णवर्म प्रथम (430-60) ने भी इसी कैकेय परिवार के राजकुमारी से विवाह किया था, और उसका पुत्र था विष्णुवर्म (460-90) ।

कोत्तिपेगिलि तथा एल्लाकेल्ल, विजयाम्बा द्वीप पर शासन कर रहे थे और ये दोनों कैकेय अन्वय (परिवार) से थे, जिसका उल्लेख लगभग छठी तथा सातवीं सदी के हिरेगुत्ती तथा करोलि ताम्रपत्र के अनुसार, जिसका प्रारूप सिंह, सेनापति के पुत्र जिननंदी सेनापति, रविवर्म के सेवक चित्रसेन महाकेल्ला तथा पयगुंडपुर के स्वामी ने तैयार किया था जिसकी पहचान कारवार जिले में स्थित हैगुंड से हुई। जिसका वर्णन कैकेयकुलसंभूत के रूप में किया गया है, जिसका कुलचिह्न सिंह था। चित्रसेन केल्ला, अंबुद्वीप अर्थात् अंजदिव द्वीप के अभियान के दौरान दान का था।

ये और इसके समान विवरण निश्चित ही एक जैसे वंशक्रम (उद्गम, स्रोत, मूल) की और उंगली निर्देश करते हैं, जिसपर आगे खोज-बीन करने की आवश्यकता है क्योंकि चालुक्यों के काल में इनकी भूमिका के स्वरूप की जांच-पड़ताल करनी जरूरी है।

4- उ) केल्ल

अप्रवासी केल्ल जैनों में विश्वास रखनेवाला योद्धा परिवार अपनी शाखाओं को अनेक नामों से फैलाने लगा। उन्होंने इन नामों को विभिन्न विशेषण से जोडा है जैसे, अरकेल्ल, इलकेल्ल, कलिकेल्ल, केसुगेल्ल, भटारिकेल्ल, मागुंडरकेल्ल, मुरसकेल्ल, महाकेल्ल, पयिदराकेल्ल, सरकेल्ल, सेब्याकेल्ल, सेवयकेल्ल, तथा सेयगेल्ल (नागराजय्य हंप: चन्द्रकोडे: 1997-: 470-74) विशेषरूप से कैकेय राजा चित्रसेन ने लगभग छठी सदी के मध्य में होन्नवार ताम्रपत्र पर अपना वर्णन करते हुए स्वयं को केल्ल तथा महाकेल्ल कहा है। इसके सदृश उदयावर प्रदेश के आळुपाओं के पूर्वी रिकार्ड इस राजवंश को अरकेल्ल बताते हैं। दक्षिण केनरा में स्थित केल्लपत्तिगे केल्लों का परकोटा था। हळेबिडु के पास स्थित पलमिडी तथा केल्लगोरे का उल्लेख आदितीर्थ के रूप में होता है जो पूर्वी जैनों की तीर्थयात्रा

का पवित्र स्थान था और यही केल्लों का पुश्तैनी घर था जहाँ से उनकी शाखाएँ दूर दूर स्थानों तक फैल गईं।

संभवतः सरकेल्ल भटरी और विज अरस जिसका हासन जिले के हलमडी शिलालेख में उल्लेख हुआ है तथा च्यारक्की मुरुस केल्लन और उसका पुत्र मात्रवर्मन प्राचीन जैन परिवार को चलाने वाले प्रथम संचालक थे। चित्रसेन महाकेल्ल (छठी सदी) के शासनकाल में केल्ल परिवार ने अपना महत्व तथा कुलीनता अर्जित की। (नागराजय्य हंप. 1997-बी: PP 470-74) गंग राजा राचमल्ल के काल में 9 वीं सदी में पांडवपुर तालुका मंड्य जिले में क्यातनहळ्ळी में उन्होंने एक जिनालय बनवाया और उसका नामकरण अपने परिवार के नाम 'केल्लबसदी' पर किया अर्थात् केल्लों का मंदिरा वे हासन के पास ही एक स्थान पर टिके रहे और फिर अपने परिवार के आधार पर ही उस स्थान को केल्लनगेरे नाम दिया जो कि मंड्य जिले के नागमंगल ग्राम में है, और शिलालेखों में इस शहर को आदितीर्थ कहा गया है, जो कि त्रिकुट जिनालय तथा अन्य मंदिरों के साथ उतने ही महत्व का तीर्थ स्थान है।

केल्ल केनरा जिले के उत्तरी तथा दक्षिण भाग में, हासन, तुमकूर, शिमोगा, मं । आदि जिलों में विभाजित हुए। उन्होंने पहले पूर्वी कदंबों के अधीन रहकर शासन प्रारंभ किया फिर उन्होंने चालुक्यों, राष्ट्रकूटों और फिर चालुक्यों की सेवा की। केल्लिपुसूरु, आधुनिक केलसूरु (चामराज जिला, तालुका गुंडलपेट) कोडगूर-विषय का एक अन्य जैन केंद्र था। वहाँ का मंदिर सातवीं सदी में चंद्रप्रभ तीर्थंकर को समर्पित किया गया था। इस प्रकार जैनों के साथ केल्ली परिवार का संबंध शिलालेखिय साक्ष्य से प्रमाणित होता है। केल्लों के विशेष संदर्भ में इस बात पर सोच विचारना ठीक होगा कि केल्लों और केल्लों का उद्गम एक समान ही था जिन्होंने राष्ट्रकूटों के शासनकाल में अपना महत्व प्रस्थापित किया था। व्युत्पत्ति की दृष्टि से केल्ल और केल्ल एक ही शब्द के स्वनिम हो सकते हैं। भाषा विज्ञान की दृष्टि से द्रविड परिवार की भाषाओं में 'क' और 'च' परस्पर बदलते हैं। इस बात को केल्लध्वज तथा केल्लध्वज शब्दों से समझा जा सकता है। (हंप. नागराजय्या : द्रविड भाषा विज्ञान :1994)

तथापि उपर्युक्त विमर्श के पार्श्व में ऐतिहासिक तथ्य की बात यह है कि केल्ल परिवार के सदस्यों ने अपनी निष्ठा बनवासी कदंबों से छोड़कर बादामी चालुक्यों के प्रति रखी।

केल्लों के नाम तथा उनके योगदान का उल्लेख पाँचवीं शताब्दी से होने लगा। आश्चर्य की बात यह है कि वे स्वयं को कैकेयवंशी मानते हैं। एळ्ळकेल्ल उपनाम इलकेल्ल संभवतः उनके प्रतिष्ठापक का उल्लेख कैकेय राजा के रूप में कापोली (बेलगाँव जिला खानापूर तालूका) के भोज असंकितवर्म के शिलालेख में हुआ है। अभिलेख यह बताते हैं कि 70 सोल्लडूर में स्थित 70 उपभागों का एकगाँव जिसे कैकेय राजा इलकेल्ल ने दान में दिया था उसे भोज राजा असणकिर्तीवर्म के अधिकारी ने फिर एक बार उसका पुनःनवीकरण किया था। केल्लों का एक और प्रमुख मुरसकेल्ल इलकेल्ल का समकालीन था। (पाँचवीं शताब्दी) इसप्रकार पाँचवीं सदी के अंत तक विद्यमान अभिलेख सरकेल्ल के अस्तित्व में होने की बात को स्पष्टरूप से स्थापित करते हैं जिसकी चर्चा ई.स. 450 के पुरालेख में हुई है। महाकेल्ल तथा ईलकेल्ल परिवार लोकप्रिय थे और उनका संबंध कैकेय वंश से था।

लगता है कन्नड शब्द केल्ल की व्युत्पत्ति द्रविड शब्द 'केल' से हुई होगी जिसका अर्थ है पूर्ण करना। अतः व्युत्पत्तिपरक दृष्टि से केल्ल का अर्थ है सफल या यशस्वी। वस्तुतः केल्ल शब्द का प्रयोग आमतौर पर विशेषण के रूप में प्रयोग में आता है, इस दृष्टि से भी यह व्युत्पत्ति सही लगती है।

केल्लों का तमिलनाडु तथा कन्नडनाडु के कई भागों से केल्लों का संबंध बहुत गहरा तथा प्राचीन था। संभवतः पुत्तिगे उनका मूल निवास स्थान रहा होगा, जिस पर विचार करना आवश्यक है। संपुष्टि करने वाले साक्ष्य, पुरालेख तथा साहित्य आदि इस अनुमान को सिद्ध करते हैं। मार्नाडु (उडुपि जिला, कारकल तालूका) को अक्सर केल्ल पुत्तिगेल कहा जाता है, जो स्पष्टता इस बात का संकेत करता है कि यह उनके पुरखों का स्थान था। इस गाँव के नाम केल्ल पुत्तिगे इसलिए भी दिया गया क्योंकि जैन शासकों की उस सराहनीय परिवारों को विशेष पहचान मिली। दक्षिण कैनरा के ख्यातनाम लोकसाहित्यकार कलकुड पाडदन उनको केल्लत्त मार्नाडु अर्थात् केल्लों के मार्नाडु कहते हैं। प्रांतों में जैनों के वैयक्तिक नाम केल्ल शब्द लगाकर चलते रहें। चालुलके, पंजलिके, वेणूर तथा कुळिपाडि आदि कारकल के आसपास के स्थान केल्लों के थे।

हलमिडी के पुरालेख (425-30) के अनुसार, विजय अरसु, अरकेल्ला प्रथम का पुत्र तथा आळुपाओं की सेना का योद्धा था, जिसने कैकेय-पल्लवों के साथ घमासान युद्ध किया था। एक और अरकेल्ला द्वितीय जो उद्यावर प्रांत का प्रभारी था,

का उल्लेख मारम्मा आळुवरस (840-70) के उद्यावर शिलालेख में हुआ है। अरकेल्ल तृतीय का उल्लेख 1006 में कलियूरु पुरालेख में हुआ है।

केल्लों के प्रमुख प्रारंभ में आळुपाओं के सामंत थे, जो बाद में कदंबों तथा चालुक्यों के सामंत राजा बन गए। उसके बाद वे गंगों तथा राष्ट्रकूटों के प्रभाव में आ गए। गंगों के प्रमुख शिवमार द्वितिय (788-812) के अधीन रहकर सियगेल्ल ने सेनापति तथा मुरुगूरुनाडु तथा केसुमण्णुनाडु के राजपाल के रूप में अपनी सेवाएँ प्रदान कीं।

वीरगल्लु (वीर पाषाण) में प्रमुखता से केल्लों का उल्लेख इस बात को सिद्ध करता है कि केल्ल जाँबाज योद्धा थे। निर्भीक दंडनायक रीयगेल्ल तो मुक्केबाज ही था। अरकेल्ल द्वितिय शेरदिल नायक को समरैक सार्थ मारबल राम तथा समंत चुडामणि कहा गया है। गंग शासकों श्रीपुरुष (725-812), शिवमार (788-812), इरेगंग नीतिमार्ग द्वितिय (907-19) तथा राचमल्ल तृतीय (925-35) के प्रति केल्ल निष्ठावान थे। अपने स्वामी इरेगंग मारगन ने इगेरु की रणभूमि पर युद्ध में भाग लिया था। अन्निकंडूपा, अरकेल द्वितिय का पुत्र तथा पोयसल मारुग अरकेल्ल द्वितिय के पपौत्र ने भी राचमल्ल द्वितिय तथा नोलंबा अनिगा के बीच हुए युद्ध में भाग लिया था और रणभूमि में वीरगति प्राप्त की थी।

महाकेल्ल उपनाम केल्ल चित्रसेन, सियकेल्ल उपनाम सियगेल्ल दोनों सामंत प्रमुख थे। जिन्होंने चालुक्यों के युग में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। सियगेल्ल ने पिचनूर, कागिमोगेगुर तथा बागेयूर के युद्ध में भाग लिया और वीरता से लडकर वीरगति प्राप्त की।

4 ऊ) गंग वंश

लौकिक दृष्टि से गंग चालुक्यों का एक अन्य स्थानीय तथा समकालीन राजवंश था, अगर सामान्य शब्दों में कहा जाय तो वह अग्रसर हुआ और उन्होंने चालुक्यों से एक शतक पूर्व स्वयं को स्थापित कर लिया और उन्होंने कुछ और शतकों तक अपने राजनीतिक महत्व बनाए रखा। गंगों के प्रांत को गंगावाडी 96,000 कहा जाता था, जिन्होंने पल्लवों और चालुक्यों के राजतंत्र में प्रतिरोध का काम किया।

चालुक्यों ने दक्षिण के विशाल क्षेत्र पर अपने अधिपत्य की छाप छोड़ी थी और उनके शाही प्रभाव के मध्य-भारत तथा गुजरात के दक्षिण भाग में भी देखा गया और जिन्होंने 200 वर्षों तक परमस्वामी के रूप में अपने हाथ में सत्ता की बागडोर

संभाल ली थी। अतः गंगों को मात्र दूसरी पारी खेलनी थी हालाँकि सामंत के रूप में वे उपेक्षित नहीं थे। चालुक्यों ने बड़ी होशियारी से गंगों से राजनीतिक सहायता प्राप्त की थी। अपनी राजनीतिक सुरक्षा तथा स्थिरता के लिए उन्होंने गंगों से बराबरी का व्यवहार किया था और दोनों शाही परिवारों में सौहार्द बनाये रखा और छठी सदी के पूर्वार्ध से ही दोनों परिवारों में वैवाहिक संबंध स्थापित किये। गंग चालुक्यों के अति महत्वपूर्ण स्नेह संबंधी सिद्ध हुए।

गंगों के प्रधान शासक दुर्विनीत ने पल्लवों तथा राष्ट्रकूटों का दमन किया जिन्होंने चालुक्यों के अधिपत्य तथा बल को रोकने का समन्वित प्रयास किया था। विशेषरूप से गंग राजा ने चालुक्यों को पल्लवराजा काडुवेट्टि की भर्त्सना से बचाया था। दुर्विनीत ने प्रसन्नता से अपने पुत्री तथा विजयादित्य के पुत्र जयसिंह वल्लभ को सिंहासनाधिष्ठ किया था। दुर्विनीत जो कि साहित्यकारों तथा साहित्य का आश्रयदाता और एक वीर योद्धा था, उसने आलनुर, अंधेरी तथा पुरुळसे में पल्लवों को परास्त किया था। (Nagarajaih. Hampa: History of Early Ganga Monarchy and Jainism: 1999).

चालुक्यों की सत्ता शक्ति कुछ और काल तक न डूब जाए इसलिए गंग उनकी सहायता के लिए दौड़े चले आए।

दुर्विनीत का पुत्र मुशकर तथा मुशकर का पुत्र श्रीविक्रम पुलकेशी तथा कीर्तिवर्म प्रथम के समकालीन शासक थे। श्रीविक्रम का पुत्र भूविक्रम पल्लवों के साथ युद्ध में व्यस्त था और पल्लव नरपति को विळंडे में पराजित कर रत्नहार हासिल किया। जब चालुक्य अपने दुर्भाग्य के फेरे से गुजर रहे थे। भूविक्रम उनकी सहायता के लिए दौड़ पड़ा। लगभग 150 वर्षों तक चालुक्यों के जहाज को डूबने से बचाना, गंगों का दृढ़ संकल्प था। तथापि, यह उल्लेखनीय है कि गंग और चालुक्य इन दो पड़ोसी शक्तियों के एक होने का कारण था, शक्तिशाली पल्लवों से बनी प्रादेशिक एकात्मकता को बचाए रखे। गंगों के सेनाबल तथा उनके सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का विचार कर चालुक्यों ने गंगों से कभी भी अन्य सामंतों की तरह व्यवहार नहीं किया था। आमतौर पर उनके साथ भिन्न स्तर पर दोनों सत्ता-शक्तियों में मित्रता थी।

इस मित्रता के संबंध के कारण गंग, चालुक्यों के निर्गमन के बाद बदलते राजनीतिक परिदृश्य में स्वयं की संगति नहीं बिठा पाये। आश्रित का पद स्वीकारने की अपेक्षा राष्ट्रकूटों की बढ़ती शक्ति का कडाई से प्रतिकार किया। अमोघवर्ष प्रथम

के शुभागमन के बाद, जिसने वैवाहिक संबंध स्थापित किए थे, विनम्र गंगों ने समझौता किया और दोनों राजपरिवारों में मित्रता का संबंध स्थापित हुआ। तथापि 800 वर्षों तक गंगों ने सामंती राजा के रूप में शासन किया। विक्रमादित्य प्रथम की महारानी गंग महादेवी भूविक्रम की पुत्री थी। मुत्तरस (श्रीपुरुष वधराज) की महारानी विजय महादेवी विक्रमादित्य द्वितीय की पुत्री थी। इसके अलावा, जैसा कि पहले कहा गया है, विजयादित्य की महारानी दुर्विनीत की पुत्री थी।

गंग वंश जैनधर्म के कट्टर भक्त थे। उन्होंने जैन धर्म का अनुकरण किया। राजा शिवमार (सातवीं सदी) के ताम्र पत्र के पुरालेख में कोंगुनाड केल्लिपुसूर, आधुनिक केलसूरु गांव (चामराजनगर जिला, गुंडलपेट तालुका) को दिये गये दान का उल्लेख दर्ज है। सातवीं सदी का यह शिलालेख इस बात को दृढ़ करता है कि इस क्षेत्र में जैन मंदिरों का अस्तित्व छठी सदी के पूर्वार्ध से ही था। हाल ही में तलकाड में किए गए उत्खनन में विजय पार्श्वनाथ, तेइसवें तीर्थंकर को समर्पित, ईंटों में बनाये गए एक जैन प्रार्थनागृह की बुनियाद प्रकाश में आयी। मुशकरों की खातिर गंगों ने जिनालय बनवाया, जिसे मुशकर बस्ती कहा जाता था। तथापि पूर्वी गंगों के द्वारा सौंपे गए जैन मंदिर बादामी के अधिपत्य के प्रदेश को सिकुड़े हुए हैं। केल्लुपसूर में स्थित एक प्राचीन जिनालय के अलावा अब और कोई विद्यमान नहीं है।

4. ए) सांतर वंश

कर्नाटक प्रदेश के शिमोगा जिले में स्थित पट्टि पोमबुच्चुपुर अर्थात् आधुनिक होम्बुज आज एक हजार की आबादी का एक छोटा सा गांव है जो कि प्राचीन काल में राजधानी का विशाल शहर था। प्रारंभ में यह शहर वातापी के राजशासन के सामंत आळुपाओं के प्रभाव में समृद्ध हुआ।

विद्यमान प्राचीन प्रार्थना मंदिर भव्यभवन, स्मारक, तालाब, जलाशय तथा अन्य अनेक प्राचीन पूजनीय अवशेष आदि उसकी प्रतिष्ठा, भव्यता और महत्व का ही प्रमाण देते हैं। होम्बुज—हुमचा, पूर्वी सांतरों का जंगल से अच्छादित राजधानी का यह शहर आम धर्मनिष्ठों, ज्ञानी इतिहासकारों तथा विद्वानों के लिए लगभग सहस्र वर्षों ले एक महत्वपूर्ण तीर्थक्षेत्र का स्थान है और पुरे वर्ष भर यहाँ लोग आते जाते रहते। छठी सदी के प्रारंभ से ही यहाँ पर लोगों का वास था और फिर

बाद में यह एक आधार स्थान तथा मूल शहर बना। यहीं से सांतरो के राजनिवासियों की उन्नति और समृद्धि हुई।

सांतरो का उदगम उतना धुँधला नहीं था। भले भी उसमें से कुछ में पौराणिकता की पुट दिया गया हो। जिनदत्त (जिन के आशिर्वाद से जन्मा) इस राजवंश का पूर्वज था, जो ऐतिहासिक आधार पर वह महा-उग्र-वंश का था। जिसका संबंध अर्हत पार्श्व के वंश से था। पौराणिक आधार पर शिलालेखों में यह दर्शाने का प्रयत्न किया गया है कि जिनदत्त के दादा, परदादाओं ने महाभारत के युद्ध में भाग लिया था और जिनदत्त राय के परदादा ने पांडवों के पक्ष में रहकर युद्ध किया था और उसे शंख देकर उसकी वीरता का सम्मान किया था। यहाँ इसका स्मरण होता है कि कैकेय के पूर्वजों ने भी कौरवों का पक्ष लेकर महाभारत के युद्ध में भाग लिया था और उनके परिवार की एक शाखा दक्षिण में स्थानांतरित होकर उत्तर कैनरा जिले के शरावति नदी के किनारे बस गई। राजा मृगेश्वरम की महारानी प्रभावती कैकेय राजवंश की राजकुमारी थी।

राजा जिनदत्त अपने पिता की आदमखोरी आदत से खीझकर, सांतरो की ओर पलटा और स्थानांतरित होकर आखिर पोंबुचा में बस गया। लोक्कियब्बे (पद्मावतीदेवि) की कृपा से वह सांतलिंगे प्रांत के प्रमुख बन गए। यह ऐतिहासिक घटना लोक कथाओं, लोक साहित्य में आज भी जीवित है।

होम्बुज की प्राचीनता और इतिहास तथा उसकी भव्य संरचना, सांतरो के साथ उनका संबंध, ईष्टदेवता की भक्ति की प्रकृति तथा प्रमुख देवीपद्मावती आदि कुछ ऐसे विषय हैं जो आम लोगों के मन में जिज्ञासा पैदा करते हैं। होम्बुज के प्रार्थना मंदिर, दक्षिण के भव्य मंदिरों की तुलना में छोटे हैं। किंतु उनके शिल्पकला की भव्यता, कलावैविध्य, परिकल्पना की एकलता तथा रचना की मौलिकता आदि उसके आकार की लघुता की आपूर्ति करते हैं। वास्तव में वे अधिक सुंदर, शांत तथा सादगी से भरे तथा यथायोग्य अलंकृत हैं। वे पूर्वी चालुक्य, राष्ट्रकूट तथा अधिकतर परवर्ती चालुक्यों के काल की शिल्पकला के नमूने हैं।

सांतर परिवार की एक अन्य प्रवृत्ति यह भी थी कि यह आदि से लेकर अंत तक राजवंशीय कुलवैर से मुक्त था। यह एक सुखद आश्चर्य है कि चारों भाइयों के बीच कभी सिंहासन के लिए भ्रातृ-वैर नहीं था और इनको प्रशिक्षण चट्टलदेवी दोड्डुम्मा (चारों राजकुमारों की मौसी) ने दिया था। (Nagarajaiah Hampa: Santararu: 1997:134-36).

हुमच इस स्थान का व्युत्पत्तिपरक अर्थ इस ओर संकेत करता है कि पूर्वी पुरालेखों में दर्ज पोंबुलच यह उसका प्राचीन तथा मौलिक नाम है। भाषा वैज्ञानिक परिवर्तन के कारण पोंबुलच के विवध रूप, जैसे पोंबुरच्च, पुंबुच्च, पोंबुज, होम्बुज तथा हुमच मिलते हैं। यह शब्द पूर्णतः कन्नड प्रदेश का है जिसका अर्थ है देवता का स्थान। विभिन्न कालों में हजारों वर्षों तक बिना किसी रोक टोक के दिगंबरों के शक्तिशाली क्षेत्र के रूप में यह महानगर प्रतिस्थापित हुआ।

गंगों के समतुल्य ही सांतरों का जैन धर्म में विश्वास था। और इनके साथ उनका मैत्रीपूर्ण संबंध था। पुरालेख यह स्थापित करते हैं कि सांतर मूलतः 23 वें तीर्थंकर अर्हत पार्श्व के महा-उग्र वंश से संबंधित थे और बाद में, चालुक्यों के काल में मूलनिवासी सांतरों में मिल गए। सिंह उनका राज-चिह्न था और परवर्ती कदंबों के समान कपिध्वज था। कुलदेवता लोककियब्बे (पद्मावतीदेवि) ने सांतरों को साम्राज्य तथा समृद्धि का वरदान दिया था। उन्होंने राजधानी के शहर के केंद्र में ही प्रार्थना मंदिर के लिए जगह ढूँढी और वहाँ पर लोककियब्बे की प्रतिमा स्थापित की, जो उनके प्रार्थना का प्रमुख स्थान बना। सौंदत्ती के रट्ट, एक अन्य जैन राजवंश, सान्तल्लिगे सासिर के राजपाल के समकालीन थे।

सांतरों ने अपने राजनीतिक व्यक्तित्व का प्रारंभ आळुपाओं के अधीन रहकर किया जो कि बादामी शासन के सेवक थे। जिनदत्त के काल में ही वे राजी खुशी से रह रहे थे, जो आळुपाओं का पूर्वपूरूष तथा जैनधर्म का संरक्षक था। परिवार के अन्य पूर्वजों के नाम थे श्रीकेशिन, जयकेशिन तथा रणकेशि, जिनका उनके प्रारंभिक स्वामी पुलकेशि, जयसिंह तथा रणराग का जाहिर कथन किया है।

जैसे ही राष्ट्रकूटों ने चालुक्यों की जगह ले ली, उसके तुरंत बाद सांतरों ने भी अपनी निष्ठा विजेता के प्रति रख दी। फिर जैसे ही चालुक्यों ने राष्ट्रकूटों का दमन किया तो सांतरों ने फिर एक बार नवावतरित विजेताओं को अपनाया। इस प्रकार उन्होंने उगते सूरज की ही पूजा की।

कुछ पुरालेखों में सांतरों के वंश तथा राजप्रशस्ति का उल्लेख मिलता है, जो उनको उनके शासकों ने दी थी। जिसे समीचीन रूप से कोडीक (codified) किया गया है। राज बीरूदावली स्तुतिपरक रचनाओं को सांतरों के भाटों द्वारा विकसित किया गया था जो कि एक मिल का पत्थर माना जाएगा। गद्य पद्य मिश्रित यह लंबी रचनाएँ पूर्णतः अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। इन लंबी तथा परंपरागत संदर्भों की प्रधान प्रवृत्ति यह है कि अधिकतर सांतरों तथा संदर्भानुसार गंगों और चालुक्यों के प्रामाणिक

ऐतिहासिक सूचना को अंतःस्थापित करना भले ही दरबारी कवियों ने अतिउत्तम राजप्रशस्तिपरक रचनाओं का निर्माण किया, जो कन्नड साहित्य के मध्यकाल की परंपरागत विधा खण्डकाव्य तथा चम्पु शैली में रची गयी थी पर इन सांतर कवियों ने अपना नामोल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा। किंतु इन कवियों ने निश्चित ही इतिहासकारों, विद्वानों तथा साहित्यकारों की सहानुभूति एवं प्रशंसा प्राप्त की थी। भले की कुछ शिलालेखों में संस्कृत का उपयोग हो रहा था किंतु सांतरों का प्रमुख माध्यम कन्नड ही था। तत्कालीन रचनाकार कन्नड के अभिजात साहित्य परंपरा में प्रवीण थे और उन्होंने अत्यंत सहजता से कविता का निर्माण किया था। अतः कविता और इतिहास दोनों साथ-साथ चलते हैं। कुछ अभिलेख तो कन्नड देश की सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक इतिहास से संबंधित विपुल जानकारी उद्घाटित करते हैं।

अपने सीमित प्रदेश में संतुष्ट सांतरों ने कभी भी अपनी सीमाओं को विस्तार देने की महत्वाकांक्षा नहीं रखी। इस प्रकार अपने सहस्र वर्षों के लम्बे इतिहास में उन्होंने दक्षिण के किसी न किसी श्रेष्ठ राजवंश चालुक्यों से लेकर विजयनगर साम्राज्य का प्रभाव ग्रहण किया था। होम्बुज ने प्राचीन मंदिरों, शिल्पों के साथ-साथ बहुप्रज्ञ जैनों का एक मात्र स्थान बनने का सम्मान पाया है।

सांतरों की राजधानी होम्बुज में दो हाथों वाली अंबिका की पाँच मूर्तियों का निर्माण किया गया था। दैत्याकर मंदिरों के गर्भगृह में अंबिका (कुष्मांडिनी) की असाधारण प्रतिमा स्थापित की गई थी। जो सुबह की लालिमा सी है और जिसकी आँखें तेज-पुंज है। यह बहुत ही अनोखी प्रतिमा है। जिसके पहलू में परिचारक हैं। जिसकी कमर कमनिय, जिसके दाहिने हाथ में आम्रलूंबी है और बायां हाथ गोद में बैठे बालक को सहारा दे रहा है। यह देवता कर्नाड मुकुट तथा अन्य गहनों से अलंकृत है। इस प्रतिमा को ऐहोळे की प्रतिमा से प्रेरित होकर बनवाया गया था। इस प्रतिमा से यह स्पष्ट होता है कि शिल्पकारों ने इस प्रतिमा को एक ताजगी, एक नवीनता प्रदान की है और साथ ही पारंपरिक प्रवृत्ति का भी पालन किया है। यह सुंदर प्रतिमा आठवीं सदी के उत्तरार्ध की है। इसकी तथा चालुक्यों के अन्य शिल्पकला की चर्चा शिल्पकला अध्याय में होगी।

4. ऐ) सेनवार वंश

सेनवार, जैन धर्म में विश्वास रखनेवाला एक कन्नड परिवार, जो छोटे राजवंशों

में से एक था, जिनका उल्लेख सातवीं शताब्दी के शिलालेखों में हुआ है। सेनवारों का नाम-वैविध्य इस प्रकार है... जैसे सेनावरा, सेणवार, सेनवल्ल, सेनमल्ल तथा सेनवा। पहली बार उनका उल्लेख ई. स. 690 में कोप्पा (सं.37) में पाये जाने वाले शिलालेख में, आळूप राजा चित्रवाहन के सामंत के रूप में हुआ है। फिर भी आठवीं सदी के प्रारंभ से उन्होंने महामंडलेश्वर जैसे गौरवशाली पद का सम्मान पाया।

हारोमुचडि (शिमोगा जिला, शिकारिपुर तालुका) के शिलालेख के अनुसार भावुवरके अरकेसरी (अरिकेसरी) सेनवार राजा मुंगुंदनाडु पर चालुक्य शासक विनयादित्य (681-96) का सामंत बनकर राज कर रहा था। दोसियरा (दोसिअरसन का संक्षिप्त रूप) उपनाम दोसि भवुवरके अरकेसरी का पुत्र अपने पिता के उत्तराधिकारी के रूप में कोकुल्लि प्रदेश में मुंगुदनाडु का प्रमुख बना। परवर्ती चालुक्यों के काल में मुंगुद जैनों का प्रमुख स्थान बना रहा। (Nagarajaiah Hampa: Vikramadity VI: P. 39).

इम्मडी कीर्तिवर्म (745-57) को बोल-चाल की भाषा में कट्टियर अथवा कोकुलि के रूप में जाना जाता था। इनमें से प्रथम कीर्तिवर्म का संक्षिप्त रूप था। जबकि दूसरा विरला तथा विशिष्ट नाम है। उदाहरण स्वरूप चिक्कनंदिहळ्ळि (हावेरी जिला, ब्याडगी तालुका) के शिलालेख में सम्राट कीर्तिवर्म को कोकुलि कहा गया है। जबकि एक अन्य, दिडागूर (हावेरी जिला) के पुरालेख में तथा वोक्कलेरि के ताम्रपत्र में उनके नाम का उल्लेख कट्टियर के रूप में किया गया है। उपर्युक्त सारे रिकार्ड यह दर्शाते हैं कि दोसि उपनाम दोसियर बनवासी के 12000 प्रभागों का महामंडलेश्वर था। बाद में चालुक्यों तथा राष्ट्रकूटों के भयंकर युद्ध (सी ई 760) में दोसियरा मारा गया।

मारके अरस सेनवार दोसियर का पुत्र तथा भूरके अरस के प्रपौत्र ने परास्त चालुक्यों से अपनी निष्ठा को तोड़कर विजेता राष्ट्रकूटों के प्रति निष्ठा दिखा दी। उसने नवोदित साम्राज्य की सार्वभौमिकता स्वीकार की। उसकी अधीनता को पुरस्कृत करने के लिए अकालवर्ष कृष्ण प्रथम (756-74) ने मारके अरस (बनवासी प्रांत का राजपाल) यह बिरुद अर्जित किया। इसप्रकार इन्होंने बनवासी नाडु के अकालवर्ष पृथ्वी वल्लभ मारके अरस बिरुद प्राप्त किए।

तत्कालीन युग के एकबंध में गोसास पाषाण में एक छोटा सा उल्लेख सेनवार राजवंश का उल्लेख किया गया है। उन्होंने पश्चिमी घाट (आधुनिक शिमोगा, चिक्कमंगलूर चित्रदुर्ग तथा हावेरी जिला) पर शासन किया। सेनवार जैनधर्म में

विश्वास रखनेवाले स्वामीभक्त-फौजी-राज-परिवार के लोग, मध्य कर्नाटक प्रदेश के मूलनिवासी थे। प्रारंभ में वे आळुपाओं के स्वामीभक्त थे। साथ ही उन्होंने वातापी के चालुक्यों का भार भी वहन किया। राजनीतिक उतार चढ़ाव के उत्पन्न होने से सेनवारों ने उनके विश्वासी सामंतों के रूप में राष्ट्रकूटों तथा कल्याण के चालुक्यों की सेवा की। विक्रमादित्य पंचम के शासनकाल (1008-15) 1010 में सेनवार परिवार के प्रमुखों में से कोई बनवासी प्रदेश का प्रभारी था। उसके बाद ग्यारहवीं सदी के मध्य में जीवितवार, उसके पुत्र जीवन वाहन और उसके पुत्र मारसिंह उपनाम मार ने चालुक्यों के सामंतों के रूप में राज किया। षष्ठं विक्रमादित्य (1076-1125) के लंबे शासनकाल में सेनवार राजकुमारों सूर्य तथा आदित्य को मंत्रियों के रूप में सेवा करने का अवसर मिला। राजसी चालुक्यों के निष्कासन से सेनवार राजवंश भी राजनीतिक विस्मरण में लुप्त हो गए।

खचरवंश के सोनवारों के पास फण्णिवज तथा मृगेन्द्र लोछन (महावीर का प्रतीक) अर्थात् सिंह का प्रतीक था। उन्होंने स्वयं को कूडलूरुपुर-वराधीश्वरस और कुडूलूरु परमेश्वरस के रूप में परिचित कराया। उससे भी अधिक उनका चित्रण मृगेन्द्र तथा खाचर त्रिनेत्र के रूप में किया गया है। यह स्थान आधुनिक हरिहर है। जिसका पूर्वकाल में कूडलूर नाम था किंतु इसके लिए अनुसंधान की अभी आवश्यकता है। उन्होंने खुद को पद्मावती चरण सरोज भृंग के रूप में घोषित किया है। जो अर्हत पार्श्व 23 वें तीर्थंकर की सेविका रूपी देवी है। ऐसा कहा जाता है कि सोनवार बंगाल के सेन के पूर्वज थे।

ओ) सेंद्रक वंश

चालुक्यों के संप्रभू कीर्तिवर्म प्रथम ने बनवासी तथा कदंबों के मांडलिक प्रथम ने सेंद्रकों की अधीनता स्वीकारने पर जोर दिया। दिलचस्प बात यह थी कि इस अधिनिकरण का सुखदायक अंत हुआ। कीर्तिवर्म ने सेंद्रक वंश के प्रमुख श्रीवल्लभ सेनानंद की बहन से विवाह कर लिया।

सेंद्रक प्राचीन राजवंशों में से एक थे, जिन्होंने चौथी सदी में स्वयं को एक राजनीतिक शक्ति के रूप में स्थापित तो किया किंतु वे मात्र सामंत ही बने रहे। राजवंशों से सीधे जुड़े हुए पुरालेख आज विद्यमान नहीं हैं और उनकी वंशावली, ऐतिहासिक विकास तथा उनके प्रवास के बारे में बहुत कम जानकारी प्रकाश में आयी है।

सेंद्रकों के वंश में आनेवाले परदादा का नाम सेंद्र था। पुलिगेरे का शिलालेख यह स्पष्ट बताता है कि सेंद्र राजवंश को चलाने वाला प्रथम पुरुष था। (भुजेगेन्द्रान्वय सेंद्रावनींद्र संतउ) (SH:XX. NO: 3: IA, VII : PP. 101-III).

सिंदों की तरह सेंद्रक भी चालुक्यों के अधीन थे। माधव-सत्ति अरस, आडूरु के सिदरस के उच्च अधिकारी, सेंद्रक कुल से थे। उसका उपनाम भी माधववात्त था। सेंद्रकों के प्रमुखों के नाम के अंत में अक्सर सत्ति या शक्ति आता है। सत्ति, शक्ति का ही भिन्न रूप है। भानुशक्ति तथा वाण सत्ती अरस कंदंब राजा पहरिवर्मन (519-30) को समर्पित थे। इंद्रानंद, विजयानंद मध्यमराजा का पुत्र, देज्ज महाराज का लाडला था, जो राष्ट्रकूटों के प्रथम राजा थे। वाणसत्ति और उसका पुत्र कुंदसत्ति क्रमशः मुळगुंद तथा पास ही के सिरगुप्पा के स्वामी थे।

सेंद्रक चालुक्यों के प्रति एकनिष्ठ थे। कुंदशक्ति के पुत्र दुर्गेशक्ति तथा सेनानंद ने राजा पुलकेशी द्वितीय को अपनी सेवाएँ प्रदान की थीं। इसी तरह देवशक्ति तथा सेंद्र महाराज पोगिल्लि दोनों क्रमशः विक्रमादित्य प्रथम तथा विनयादित्य के अधीनस्थ थे। इसी के समान निकुमभल्लशक्ति के पुत्र आदित्यशक्ति का प्रपौत्र तथा भानुशक्ति के प्रपौत्र जयशक्ति और माधवसत्ति कीर्तिवर्म द्वितीय के निम्न अधिकारी थे।

पूर्वी चालुक्यों की एक शाखा, सातवीं सदी में उत्तर पश्चिम के गुजरात, खानदेश तथा आंध्रप्रदेश के कर्नूल क्षेत्र में स्थापित हुई थी। सेंद्रक मूलतः बनवासी 12000, प्रदेश के नागरखंड-70 के क्षेत्र के थे। पहले नागरखंड रियासत का दूसरा नाम सेंद्रक राज्य था। सेंद्रक विषय में शिमोगा चिक्कमंगलूर, हावेरी तथा हासन जिले का कुछ भाग सम्मिलित था। सेंद्रक अवरेतिक-विषय के भी प्रमुख थे। अवतेरिक विषय अर्थात् आधुनिक उत्तर तथा दक्षिण कोंकण है। जिसमें ठाना, कोलाबा और रत्नागिरि जिलों का समावेश है। सकरेपटण के पुरालेख यह सूचित करते हैं कि दक्षिण कर्नाटक अंग के सेंद्रक राजा ने सिंहवर्म प्रथम (436-66) शासनकाल में पल्लव साम्राज्य का कुछ भाग बनाया था।

प्राकृत भाषा में लिखित चन्द्रवळि के पाषाण शिलालेखों में (चौथी सदी) सर्यिदिका (सेंद्रक) पहली बार दृष्टिगोचर हुए। यह अभिलेख तथा राजवंश के पूर्वी संदर्भ यह बताते हैं कि कंदंब राजा मयुरवर्म (435-60) ने सर्यिदक के प्रमुखों को परास्त किया। यह विवरण निश्चित करता है कि पल्लवराजा सिंहवर्मन प्रथम (436-60) का पुरालेख तथा हलमिडि शिलालेख में उल्लेख है जिसमें वलविल्ली अग्रहार

(शिमोगा जिला) को राजा के उपहार की बात दर्ज है जो सेंद्रक विषय में स्थित था।

कदंब राजा विष्णुवर्म (469) तथा सिंहवर्म (495) के मुडिगेरे ताम्रपत्र यह बताते हैं कि पूर्ववर्ती तथा परवर्तियों ने छः निवर्तन जमीन सेन्द्रक विषय के आसनदिलूर गाँव के उत्तरी भाग को तथा पाँच नवरत्नों जमीन दक्षिणी भाग के स्थानीय जैन मंदिर अर्हतायतन को दान में दी थी। वह गाँव आज आसंदिहल्लि के नाम से जाना जाता है जो मुडिगेरे के पास चिक्कमंगलूरु जिले में स्थित है। फिर ई.स. 524 में राजा रविवर्म ने आसंघलूर दावणगेरे के पुत्र सिद्धायतन की प्रार्थना के लिए जमीन दान में दी थी।

कृष्णवर्म द्वितीय (545-70) के बेण्णूर कांस्य पत्र में भी यह उल्लेखित है कि पलमिडि गाँव सेंद्रक विषय में ही समाविष्ट है।

शिलालेखिय सामग्री के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि शिमोगा जिले का उत्तर-पश्चिमी प्रदेश सेंद्रकों का केन्द्र स्थान था और केर्नल का क्षेत्र छठी सदी में धीरे-धीरे फैलता गया था। पुलकेशी प्रथम के शासनकाल में सेंद्रकों का प्रमुख स्वामियर उपनाम सामियर शिवार का पुत्र तथा गोडराज का प्रपौत्र, कुंहंडि 3000 के प्रदेश पर शासन कर रहा था, इस प्रांत का सीमा भाग मिरिजे का क्षेत्र था जो कि वर्तमान मिरज है। (भोजराज बी पाटील नागरखंड-70, 1995 37-40)

राष्ट्रकूटों के राजा देज्ज महाराज (533-35) के गोकक- ताम्रपत्र, उनका वर्णन आगुप्तायिका वर्धमान महावीर के वंश के प्रमुख के रूप में करते हैं। सेंद्रक राजवंश के विजयानंद मध्यम राजा का पुत्र राष्ट्रकूट के अधिन था। अधिराजा इंद्रनंद जंबुखंडी प्रदेश के प्रधान थे। अधिराजा, विजयानंद तथा इंद्रनंद पूर्वी सेंद्रकों की ही शाखाओं से निकली आंध्र शाखा से संबंधित थे।

फणिकुल (नागकुल) सेंद्रकों के स्वामी कृष्णशक्ति का पुत्र रविशक्ति चालुक्यों के शासक मंगलेश के हूलि पत्रों में दानी के रूप में दिखाई देते हैं। रविशक्ति ने अपने अधिपति मंगलेश के आदेशानुसार किरुवे केरे, आधुनिक किरटगेरि (गदग जिला) गाँव में 16 वें तार्थकर स्वामी शांतिनाथ को 50 निवर्तन की उपजाऊ जमीन दान में दी थी जो कि उसके सामंति अधिकार में था। अनुदेशक अभयनंदी, परलुरु संघ के श्रीनंदी का शिष्य दानी था।

पुलकेशी द्वितीय (609-42) के चिपलुन के घोषणापत्रों में उल्लेखित है कि सेंद्रक श्री वल्लभ सेनानंदराज पुलकेशी का मामा था। सेंद्रक तथा चालुक्यों में वैवाहिक संबंध थे, राजा कीर्तिवर्म प्रथम ने (566-96) जो कि पुलकेशी के पिता थे, सेंद्रक राजकुमारी से विवाह कर लिया था। भीमशक्ति सेंद्रक, सातवीं सदी के शिलालेख में पुलकेशी द्वितीय की सेवा में सामंत के रूप में नज़र आता है। वाणशक्ति तथा कुंडशक्ति मुळगुंद के राजपाल थे जो कि छठी तथा सातवीं सदी का जैनों का प्राचीन तीर्थ है।

दुर्गशक्ति, कुंदशक्ति का पुत्र तथा विनयशक्ति का प्रपौत्र अनेकांतमत का एक अन्य श्रद्धेय धवल स्थान पुलगेरि के अभिलेख में उल्लेखित है। दुर्गशक्ति ने प्रसिद्ध शंख जिनालय को 630 में पुलिगेरे के पास जमीन दान की थी। जबकि रविशक्ति ने शांतिनाथ बसदी को दान में जमीन दी थी और इसके दानी थे पुरुलूर संघ के आचार्य श्रीनीधि के भक्त आचार्य अभयनंदी थे। श्री पोगिल्लि सेंद्रक महाराज अपने निवास स्थान जिडुदुलिगे, एक और जैन केंद्र, से सातवीं सदी के उत्तरार्ध (680 ए.डी.) में बनवासी 12000 प्रभाग पर शासन कर रहे थे। सेंद्रकों के भूषण नागशक्ति ने चालुक्य राजा को 749 में गाँव दान में देने की प्रार्थना की थी। कण्णशक्तिवरस का नाम सातवीं सदी के पुरालेख में आता है। इसी प्रकार जयशक्ति तथा निकुमभल्लशक्ति के नाम कळवन पुरालेखों तथा बगुम्रर अनुदान में आते हैं।

उपर्युक्त विवरण सेंद्रकों के पूर्वी स्थान को निर्धारित करते हैं।

भानुशक्ति के निवेदन पर रविवर्म के पुत्र कदंब राजा हरिवर्म ने अपने शासन के पाँचवें वर्ष में मरदे ग्राम के पवित्र लोगों के लिए तथा पवित्र रीति रिवाज निभाने के लिए दान में दिया, जो कि अहरिष्टि श्रमण संघ की जायदाद थी जिसकी देखभाल आचार्य धर्मनंदी किया करते थे। (IA :VOL: VII. P.-32: JBBRAS, IX, CK1 NO 30 ई.स. 542, PP. III-14).

सेंद्रकों ने चौथी से आठवीं सदी तक बनवासी के कदंबों, बादामी के चालुक्यों तथा पूर्वी राष्ट्रकूटों को सामंतों के रूप में शासन किया।

वे फणिकुल (नागकुल) से संबंधित थे। सेंद्र राजा की संतति में भानुशक्ति (519-30) का जन्म हुआ, जिसने उक्त परिवार का मूलपुरूष तथा भूषण होने का सम्मान प्राप्त किया। उसने कदंब राजा हरिवर्म (519-30) की सेवा की तब उसके पुत्र विजयानंद (533-33) की राष्ट्रकूटों के शासक देज्ज उपनाम देज्जिय के साथ सहबद्धता थी। जब चालुक्यों ने राष्ट्रकूटों पर अपना अधिपत्य जताया तो सेंद्रकों

ने अपनी निष्ठा चालुक्यों के प्रति दिखा दी। इंद्रनंद कण्णशक्ति, रविशक्ति, श्रीवल्लभ सेनानंद, भीमशक्ति, वनशक्ति अरस, कुंदशक्ति अरस दुर्गशक्ति, पोगिल्लि सेंद्रक महाराज (682-96) नागशक्ति (749) तथा माध्वशक्ति ने अपने अधिराजा चालुक्यों की सेवा की।

सेंद्रकों ने अपने अधिपतियों के स्नेह तथा विश्वास का आनंद उठाया। पुलकेशी द्वितीय के पुत्र कीर्तिवर्म प्रथम ने (566-96) सेंद्रक परिवार की राजकुमारी से विवाह कर लिया था। दूसरे शब्दों में सम्राट पुलकेशी द्वितीय (610-42) सेंद्रक राजकुमारी का पुत्र था जो श्रीवल्लभ सेनानंद की बहन थी। इस प्रकार अपने माँ की ओर से वह पुलकेशी का ससुर था। इस विवाह से दोनों राजवंशों में सौहार्दपूर्ण स्नेहसंबंध स्थापित हुए। भीमशक्ति स्वयं को सत्याश्रय अर्थात् पुलकेशी का पादपद्मोजीवि कहता था। इसी प्रकार कुंदशक्ति का पुत्र दुर्गशक्ति था। नागरखंडो का प्रमुख श्री पोलिगिल्ली सेंद्रक, विनयादित्य (681-96) का सांमत था। नागशक्ति संभवतः सेंद्रक वंश का मान्यता प्राप्त प्रमुख था और साथ ही भानुशक्ति पहले शासकों के समान परिवार का भूषण था जो कीर्तिवर्म (745-57) द्वितीय के मांडलिक के रूप में फल-फूल रहा था। माध्वशक्ति उपनाम माधवत्ति अरस अंतिम ज्ञात सेंद्रक तथा राजपाल ने कीर्तिवर्म द्वितीय की सेवा की। उसके बाद साथ-साथ दोनों चालुक्य तथा सेंद्रक राजनीतिक उपेक्षा के स्तर पर पहुँचे।

4. औ) सिंद वंश

सिंदों का राजनीतिक इतिहास कभी भी आकारविहीन और उनकी ज्ञात वंशावली खंडित है। बेलगुत्ति, रेंजेरु, बागडगे, कुरुगोडु पत्यंडक तथा एरंबरगे के सिंद उनकी परवर्ती शाखाएँ थीं।

सिंद, भोगवती पुरवराधीश्वरस के रूप में जाने जाते थे, जो नागवंशी थे। कदंबों तथा चालुक्यों के प्रांत में, सातवीं तथा आठवीं सदी में, चालुक्यों की अधीनता में सिंदों ने प्रशासनिक पद प्राप्त किया था। आडूरु के शिलालेख के अनुसार, सिंदरस, चालुक्यों के अंतिम शासक कीर्तिवर्म द्वितीय (745-57) का स्वामिभक्त बनकर पान्थिपुर, वर्तमान हानगल- हावेरी जिले पर शासन कर रहा था। विक्रमादित्य द्वितीय (655-81) के शासनकाल में कुक्कनूर के अभिलेख में सिंदरस के प्रांत के प्रमुख होने का उल्लेख है। सिंद, गांगि-पांडिवूरु, वर्तमान आडूरु के प्रभारी थे।

सिंदों की वंशावली तथा क्रम दोनों अस्पष्ट हैं। अबतक प्राप्त शिलालेख भी उनके राजवंश के इतिहास पर प्रकाश नहीं डाल पाये हैं। दिलचस्प बात यह है कि प्राप्त डाटा सिंद तथा सेंद्रक एक ही मूल की दो शाखाएँ होने की संभावना की ओर संकेत करते हैं। दोनों नागवंशी तथा जैनधर्म में विश्वास रखनेवाले थे। इसप्रकार दोनों राजवंशों का समकक्षता पर विचार करना जरूरी है। आयचराज उपनाम आयचपराज तथा आचाराज (उसका बहनोई) जैन धर्म को समर्पित थे जिनके लिए जिनपति दैव ही था। दोनों सिंद परिवार से थे। दोनों कल्याण के चालुक्य सम्राट विक्रमादित्य षष्ठ (1076-1125) के अधिनस्थ थे।

आचरस उपनाम आचराज (बरमदेव का पुत्र) ने किसुकाडु किसुवोलल के आसपास के प्रांत पर महामंडलेश्वर के रूप में शासन किया। जैसा कि ऊपर उल्लेखित है आचराजा अब्बेयगेरी (रोण तालुका, जिला गदग) का पेरगडे (स्थान प्रमुख) था। आचराजा, बेळ्ळवोल-300 तथा नरयंगल 12 का प्रमुख था जिसने पहले बनवाये गए जैनमंदिरों का जीर्णोद्धार किया। एक शिलालेख में यह उल्लेखित है कि सिंदों का प्रमुख निडुदोळ (दीर्घबाहु) धरणेन्द्र से जन्मा था। (फणिराज, नागराज) सिंदों के ध्वज पर फन फैलाए नाग का चित्र था, जिन्होंने सिंदवाडिनाडु पर शासन किया अथवा सिंद-विषय सेंद्रक भुजगेन्द्र थे तथा सेनवारस का फणिध्वज था। सांतर मूलतः महा-उग्र वंश के थे। सातवाहन नागपूजक थे। बनवासी का नागरखंड प्रदेश नागों का प्रांत था तथा नाग जनजाति की मातृभूमि थी। रेंजोल के सिंद स्वयं के बारे में यही कहते हैं कि वे नागपति धरणेन्द्र की पटरानी पद्मावती देवी के वरदान से उनका जन्म हुआ था। सिंदों की प्रशासनिक भाषा कन्नड थी। परवर्ती शाखा के सिंद शिवभक्त थे।

इसप्रकार चालुक्य राजा विद्वान मंत्रियों के परामर्श तथा सामंतों के सेनाबल पर हावी हो गए थे।

अध्याय पाँच

वर्णमय जैन संघ

आरंभ

जैनधर्म की अपनी एक अत्यंत गतिशील तथा धार्मिक परंपरा रही है, जो दक्षिण प्रांत को सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध कर रही थी। ऐतिहासिक विकास तथा प्रक्षेपवक्र पर युगानुकूल चर्चा तथा अनुशीलन की आवश्यकता है। अतः इस अध्याय में जैनों की ऐतिहासिक संरचना का विशेषकर चालुक्यों के इतिहास के परिप्रेक्ष्य में, जैनों के स्थान पर प्रकाश डालते हुए, विचार करने की कोशिश की जा रही है।

जैनों ने अपनी राजनीतिक गतिविधियाँ सुदूर अतीत में बहुत पहले से ही शुरू की थीं। सभी 24 तीर्थंकर क्षत्रिय थे। इसकी ऐतिहासिक साक्ष्य 22 वें तीर्थंकर नेमिनाथ के उदगम से मिलती है और फिर उसके बाद अधिक से अधिक जिन पार्श्व तथा महावीर क्रमशः 23 वें तथा 24 वें तीर्थंकर से मिलनी शुरू होती है। महावीर के पाँच महान व्रतों का उपदेश उनके पूर्वाधिकारी अर्हत पार्श्व द्वारा समर्थित नैतिक समीकृत उपदेशों के समान ही थे, किंतु उसमें थोड़ी सी भिन्नता थी। मगधन प्रदेश को अपना केंद्र बनाकर, जैन धर्म धीरे धीरे दक्षिण में

ई. पू. चौथी सदी से फैलने लगा। सामाजिक राजनीतिक संपर्क के रूप में इस विशिष्ट धर्म का उदय और विस्तार हुआ।

कर्नाटक में जैनों की धार्मिक परंपरा को ईसा की पहली सदी से देखा जा सकता है। किसुवोळाल क्षेत्र समेत नवनों ने कुंतल विषय पर शासन किया। कुंतल कर्नाटक का ही पर्यायवाची शब्द है। जिसमें साढ़े सात लाख गाँव समाहित है जो विंध्य की पहाड़ी से दक्षिण तक फैला है। कलिंग के जैन राजा खारवेल ने नंदों द्वारा ली गई जिन की मूर्ति को पुनः प्राप्त किया। यह घटना इस बात का निश्चय करती है कि नंदों का जैनधर्म में विश्वास भी था एवं आकर्षण भी।

नंदों के उत्तराधिकारी मौर्यों ने जैन धर्म को उदारता से प्रोत्साहित किया। राजा चंद्रगुप्त मौर्य अपने धर्मगुरु श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ कळवप्पु वर्तमान श्रवणबेळगोळ आया था। जहाँ उसने सल्लेखन का व्रत धारण कर अपनी देह त्याग दी थी। अशोक का प्रपौत्र 'संप्रति चंद्रगुप्त' ने जैन धर्म का समर्थन किया। सातवाहनों तथा अन्य उत्तराधिकृत राजपरिवारों के लोगों ने मुनियों, प्रार्थनागृहों तथा आश्रमों को जमीन तथा गाय दान में देकर जैन धर्म को प्रोत्साहित किया। जैन धर्म की गतिविधियों को आश्रय देने में कर्नाटक एक उपजाऊ भूमि सिद्ध हुई और फिर जिसको पुरालेखिय तथा साहित्यिक साक्षों ने भी सहायता प्रदान की। कुप्पटूर (शिमोगा जिला, सोरब तालूका) के शिलालेख में ऐसा कहा गया है कि चारुकर्नाटदेशम जिनधर्मावासव आड अर्थात् रमणीय या सुंदर कर्नाटक देश जिन-धर्म का आश्रय स्थान बन गया। पल्लवों, आदिकदंबों तथा गंगों की छत्रछाया में जैनधर्म का अत्यंत विकास हुआ था। कई छोटे राजवंशों ने भी जैनधर्म को विकसित होने के लिए उसका मार्ग प्रशस्त किया। इस प्रकार समय के रहते चालुक्यों ने भी बादामी में अपना राजतंत्र स्थापित किया और पूरे दक्षिण में जैन धर्म प्रचलित हुआ और उसकी जड़ें गहरी जमने लगीं। हालाँकि कर्नाट देश तथा तमिलनाडु उसके प्रमुख, प्रबल तथा पुख्ता क्षेत्र थे।

यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण तथा अनोखी बात है कि प्राचीन तीन धर्म तथा दर्शनों.. वैष्णव, जैन तथा बौद्ध ने युग में अपना सम्मान तथा स्थान बनाए रखा। आलमपुर के प्रशस्ति का प्रारंभ इसप्रकार होता है...

सो व्याद भागवतान बौद्धान

जिनेन्द्रमतम-आश्रितान

स्व-धर्म-क्रियया विषयनि
तीर्थ्यन संतर्पयन नृपः॥

अर्थात् राजा ने विभिन्न धर्मों वैष्णव, जैन तथा बौद्ध के अनुयायियों की रक्षा की और इस तरह अपने पावन कर्म से इस पृथ्वी को पवित्र तथा तृप्त किया।

उपर्युक्त पद के दर्पण में चालुक्य सम्राट तथा साम्राज्य का, (जिन्होंने सभी धर्मों की रक्षा का समर्थन किया तथा उसके अनुयायी बने) सही प्रतिबिंब मिलता है। इस मत में अन्य धर्मों के प्रति घृणा को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था तथा धार्मिक सौहार्द बनाए रखना प्रशासन का मूल ध्येय था और उसका अनुपालन भी किया जाता था। जैनधर्म की अन्य विचारधारा के प्रति दृष्टि अनेकान्त तथा स्यादवाद के तर्क पर आधारित थी।

जैनधर्म के लिए सामाजिक वरीयता प्रबल तथा स्पष्ट थी। कोल्हापुर (महाराष्ट्र) की संस्कृत तथा कन्नड लिपि में लिखे दसवीं सदी के पुराने पत्रों में पुलकेशी प्रथम सत्याश्रय रणराग का पुत्र तथा जयसिंह का प्रपौत्र का उल्लेख है। रुद्रनिल, सेंद्रक परिवार का समियार तथा पुलकेशी के सामंत कुहंडी जिले के राजपाल को अलकटक नगर (किसुवोळल, पट्टदकल्ल) के जिनालय का भार सौंपा गया था। समियार ने अपने सम्राट की अनुमति से कुछ ग्राम तथा जमीन दान की थी। शिलालेख में कई जैन मुनियों का भी उल्लेख है। (JRAS. VOL. V.P./ 343.f :IA :VOI: VII. pp 209-17.)

राजा विनयादित्य ने शिग्गाव के शिलालेख (707) में यह उल्लेख है कि उसने किसुवोळल से बनवासी तक की यात्रा मात्र इसीलिए की थी कि वह आळुपाओं के राजा चित्रवाहन तथा उसके भाई से भेंट करों परवर्तियों की प्रार्थना पर सम्राट ने पुलिगेरे में स्थित जिनभवन को गुडिगेरे ग्राम दान में दिया था।

विक्रमादित्य चतुर्थ के काल में कन्नड भाषा में लिखित गुडिगेरी स्थान में स्थित शिलालेख दिनांक 1076-77 में यह कहा गया है कि

चालुक्य-चक्रवर्ती विजयादित्य
वल्लभानुजेयप्पा श्रीमत कुंकुम
महादेवी पुरिगेरेयल्लु माडिसिद
आनेसेज्जेय बसदी।

अर्थात् आनेसेज्जय बसदी तो पुलिगेरे में है उसे चालुक्य चक्रवर्ती विजयादित्य की छोटी बहन कुंकुम महादेवी द्वारा बनवाया गया था।

उपर्युक्त शिलालेख यह स्पष्ट करता है कि गुडिगेरी की जमीन आनेसेज्जया बसदी के कब्जे में थी। कारण चालुक्य राजकुमारी कुंकुम महादेवी ने उसे बनवाया था। जाहिर है कि 1076-77 का परवर्ती शिलालेख सातवीं सदी के शिलालेख की नकल ही है।

जैनमुनियों ने सुनियोजित तथा सर्वसमावेशी प्रणाली अपनाकर अपना लक्ष्य प्राप्त किया था। संयम, पवित्र आचरण तथा निस्वार्थ भाव जैनमुनियों में पाये जाते हैं। इससे समाज में उनको आदर सम्मान मिला तथा प्रशंसा भी मिली। पीढियों तक उनको राजनिर्माता के रूप में राजसमर्थन मिलता रहा। सेनापतियों, सामंती राजाओं तथा प्रांतीय राजाओं पर विजय प्राप्त करने के बाद प्रांतीय केंद्रों में उनकी सफलता इन अधिकारियों के संरक्षण में निश्चित ही थी। लोकप्रिय सहयोग प्राप्त करने के बाद उनके अनुयायियों में मध्यवर्ग वीर-बणजिग का एक महत्वपूर्ण हिस्सा उनके साथ था तथा व्यापारी वर्ग की आर्थिक सहायता जैन धर्म को लंबे समय तक मिलती रही। जिससे वे जैनों के भव्य मंदिर तथा प्रतिमाएँ बनवा सके। उनके भव्य दिव्य प्रभाव तथा क्रियात्मक राज सहयोग ने जैनधर्म को प्रबल तथा लोकप्रिय बनाया। इन जैन मुनियों के पास न तो कुछ था न ही उनको कुछ चाहिए था और इससे भी बढ़कर उनके चार सौगातों (शिक्षा, भोजन, औषधि तथा आश्रय) से संबंधित उनके सिद्धान्तों की अनुवीक्षिकता का आग्रह लोगों की भक्ति तथा निष्ठा प्राप्त करने में सहायक सिद्ध हुआ। इसका कारण था कि उसने मानवता की प्राथमिक आवश्यकता की पूर्ति की थी। परिणाम स्वरूप बड़ी संख्या में लोग जैनधर्म के प्रभाव में आ गए। (पुसालकर अई: 288)

जैनधर्म को संचालित करनेवाला प्रेरणादायक प्राणतत्व था भ एक वर्ग। उनके नैतिक आचरण कड़े थे किंतु संयम नियम, निस्वार्थता, सच्चरित्रता, गंभीर विद्यार्जन आदि ने इस धर्म को जीवित, क्रियाशील तथा लोकप्रिय बनाया। इन विशिष्ट अनुशासित मठवासी संघटना की लहर समग्र चालुक्य साम्राज्य में फैल गई और कर्नाटक के दक्षिण में श्रवणबेळगोळ, केल्लिपुसूर, बस्तिपुर (कोळ्ळेगाल) तलकाड तथा उत्तर में ऐहोळे, बादामी, किसुवोळाल, अण्णिगेरे तथा पुलिगेरे में उत्केन्द्रित थे। जैन धर्म की प्रचुर मात्रा में की गई प्रचार प्रक्रिया तथा भागो-उपभागों में उसका शासन अत्यंत तीव्रता से प्रारंभ हुआ। जिसने परवर्ती चालुक्यों के युग में अपनी पराकाष्ठा को देखा।

मूल धर्म सभा के विभिन्न वर्गों की इस अटूट साम्प्रदायिक सहोदरता से जैन धर्म समृद्ध हो रहा था क्योंकि उसकी खुबियाँ मत से जुड़ी हुई थीं। अतः भाषागत प्रादेशिक तथा साम्राज्यिक निकष उसके विकास तथा एकत्मकता के मार्ग में बाधा बनकर नहीं आए। जैन साधु तथा साध्वियाँ मुक्त होकर एक से दूसरे प्रदेश तथा राज्य में विचरण करते और उनको हर स्थान से आदर तथा सम्मान प्राप्त होता था। भारत का इतिहास और भूगोल निरंतर यात्रा करने वाले श्रमणों के प्रति ऋणी है, जो नंगे पैर चलते, व्रतस्थ रहते तथा सांस्कृतिक एकता तथा अखंडता को बनाए रखते। गृहत्यागी जैन धर्म गुरु इन्द्रियजीत, घुम्मकड तथा मितभाषी थे। ये पूजनीय जैनधर्मी सर्दियों में ध्यान धारण करते और गर्मियों में चिलचिलाती धूप में बाहर निकलते। विषय वासना पर संयम, नंगे पैर घूमना तथा धर्म ग्रंथों पर अधिकार बनाए रखना ये जैन धर्म की प्राथमिक आवश्यकताएँ थीं और अब भी हैं।

न केवल शासकों बल्कि हर वर्ग, जाति, समुदाय, व्यवसाय के लोगों ने जैनधर्म के प्रति अपनी निष्ठा जतायी। महामंडलेश्वरों, महासामंतों, सेनापतियों, व्यापारियों, स्त्री-पुरूष सभी ने जैन-प्रार्थनागृहों, श्रमणों तथा धर्मगुरुओं के प्रति अपनी श्रद्धा भक्ति दर्शायी। जैनों के आश्रम तथा प्रार्थनागृह राज्य तथा लोगों के अनुदानों से भरे थे, 500 निवर्तन की उपजाऊ जमीन जैन प्रार्थना गृहों को उपहारस्वरूप दी गई थी। बाहुबलि श्रेष्ठी, एक प्रभावशाली व्यापारी की बिनती पर राजा विक्रमादित्य ने जैनमंदिर के लिए 50 निवर्तन की जमीन का प्रबंध किया। धर्मगामुंड सराफ ने धर्मशाला तथा जिनालय बनवाया। इसी तरह कलियम्मा तथा जाबुलगेरी के गांव के मुखिया ने अण्णिगेरी में चेदिया (चैत्य जिनालय) का निर्माण किया था। इस प्रकार सम्राट से लेकर सामान्य नागरिकों से जैन भक्तों का संघटन बना था। सक्षम समर्थकों के व्यवस्थित कार्य, सीधे तथा अन्य स्रोतों के द्वारा पीढियों तक मिलने वाली राज-प्रत्याभूति के कारण जैन संघ फूला फला।

दक्षिण के राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास के पूर्वमध्यकाल में पलसिगे (पलसि, हलसि, पलासिका) एक महत्वपूर्ण जैन केंद्र माना जाता था। पूर्वी कदंबों के शासन काल (345-545) के दौरान पलसिगेनाडु (विषय मंडल) ने बहुत ही महत्व का स्थान अर्जित किया था। फिर आगे चलकर पलसिगे को कुंतलनाडु में मिलाया गया और जब इसे राजधानी का दूसरा शहर बनाया गया तो उसको बहुत प्रसिद्धी प्राप्त हुई। पलासिका-पन्निरचासिर (2000) की भौगोलिक सीमाएँ उत्तर केनरा के उत्तरी प्रदेश के खानापुर तथा बैलहोंगल तालूकों में

समावेशित थीं। जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस नाम के विभिन्न रूप मिलते हैं— जैसे पलसिगेनाडु, पलसिगे देश तथा हलसिगेनाडु। पलसिगे के जिनेन्द्रभवन को सुद्धि कुंदूर विषय (धारवाड में स्थित वर्तमान नरेंद्र) के वसंत वाटिका ग्राम से संपन्न किया था। पलसिगेनाडु ने कदंबों के कार्यकाल में गोवा में उतने ही महत्व का स्थान होने का सम्मान पाया। बैलहोंगल तथा खानापुर तालूका (बेलगांव जिला) के शिलालेख इस वरीयता को निश्चित करते हैं।

संख्या की दृष्टि से विद्यमान जैन सामग्री की संख्या बहुत अधिक नहीं भी रही होगी परंतु गुणात्मक रूप से चालुक्य श्रेष्ठ, शक्तिशाली एवं वैशिष्ट्यपूर्ण जैन संस्कृति के सच्चे निर्माता थे। अतः अहिंसा की अमृतधारा का नाभिकेंद्र ऐहोळे तथा बादामी के इर्द गिर्द ही था। जिससे किसुवोळाल (प दकल) की छाप के पूर्वी स्मारक गौरव प्राप्त कर फलते फूलते नजर आने लगे। स्यादवाद की लहर राजतंत्र के कोने कोने में फैलने लगी। उसका वर्चस्व जैसा कि पहले उल्लेखित है, जैन केंद्रों जैसे कोपण, पुलिगेरे, अण्णिगेरे, अडरु, होम्बुज, हळ्ळूर तथा श्रवणबेळगोळ में था।

सातवाहनों ने निर्ग्रंथ सूत्रल के बीज बोये और पूर्वी कदंबों ने जैनधर्म के सामर्थ्य को बढ़ाया। दो अन्य समकालीन राजवंश कर्नाटक के दक्षिण में गंग तथा उत्तर में चालुक्यों ने सौहार्दपूर्ण वातावरण निर्माण करने के लिए एक साथ गति से उसको बढ़ाया तथा तीव्र गतिमान बनाया। विशेषतः चालुक्यों ने अनेकान्त को सुचारू रूप से चलाने के लिए उपजाऊ जमीन का निर्माण किया। जैनधर्म का विकास तथा प्रसार शक्ति दर शक्ति होने लगा। क्योंकि यह दोनों सामान्य तथा राजपरिवार के लोगों के निकट था। इसने इसे हर उतार चढ़ाव में संभलने तथा जीवित रखने में शक्ति दी। अपने प्रभाव को बनाए रखते हुए, जैनधर्म ने चालुक्य समाज में समाकलन रखा और जैनेतर मतों तथा धर्मों के साथ सौहार्द तथा सहअस्तित्व बनाए रखा। जैनमंदिरों अथवा स्मारकों के निर्माण मात्र से ही कर्नाटक में जैनधर्म विकसित नहीं हुआ था। बल्कि जीवित रखने की खातिर किए गए प्रयत्न जैसे इन प्रस्थापित जैन स्मारकों तथा केंद्रों को दिए जाने वाले छोटे बड़े अनुदानों ने कर्नाटक में जैनधर्म की लोकप्रियता तथा विकास के लिए आवश्यक जीवनी शक्ति प्रदान की। इसका स्पष्टिकरण विभिन्न कालों के विभिन्न राजवंशों के शिलालेखों द्वारा होता है। (नरसिंह मूर्ति A.V: Karnatak kings and Jainism A study 1976-: 60-69)

दान देने की परंपरा में गोदान (गोसहस्रदान) बहुत ही पवित्र तथा अनोखा माना जाता था। गोसास कल्लु (अर्थात् गोदान का स्मारक पाषाण) पर गोदान का विवरण दर्ज है। कर्नाटक में लगभग एक सौ गोसास के पाषाण विद्यमान हैं। हाल ही में प्राप्त गोसास की सबसे वैशिष्ट्यपूर्ण बात यह है कि वे क्रम में सबसे पहले के हैं तथा कन्नड भाषा तथा लिपि में लिखे गए हैं और जिनका जैनों से संबंध रहा है। मल्लेनहळ्ळि (शिमोगा जिला, शिकारपुर तालुका) के गोसास का ऐतिहासिक महत्व यह है कि वे लगभग 30 की संख्या में हैं, जिसके लिए किसी अतिशयोक्ति की आवश्यकता नहीं है।

एक जैन गोसास राजा कीर्तिवर्म द्वितीय के काल का है तथा अन्य राष्ट्रकूटों के युग के हैं। कीर्तिवर्म का अधिनस्थ दोसिर 760 में बनवासी 12,000 पर शासन कर रहा था। क्रमानुसार दूसरे गोसास 760 के हैं, जो चालुक्यों के निकास तथा राष्ट्रकूटों के प्रवेश का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि सेनावर (सेनावर) के मारक्येरस बनवासीनाडु का राजपाल था तथा कृष्ण प्रथम उसका अधिपति था। आदित्यसेन पंडित तथा देवेन्द्रसेन पंडित दोनों मर्मज्ञ जैनगुरु शिमोगा जिले के शिकारिपुर तालुका में स्थित मुत्तळ्ळि ग्राम के सेनावर प्रमुख के गोसास के प्राप्तकर्ता थे। कीर्तिवर्म द्वितीय के समय का अण्णिगेरी में स्थित स्तंभ यही कहता है कि जिनालय के सामने वाला स्तंभ गोसास की निशानी के रूप में काळ्ळियम्मा गामुंड के द्वारा बनवाया गया था।

पुलिगेरे, चारों युगों में सबसे प्राचीन, प्रसिद्ध तथा सम्मानित शहर, और पुलिगेरे 300 उपभागों की राजधानी का शहर था। इसकी महत्ता की भूरी भूरी प्रशंसा शिलालेखों तथा साहित्य में दर्ज है। जो संपूर्ण उल्लासकारी इतिहास में सबसे अधिक सौभाग्यशाली जैन तीर्थस्थान रहा और सदियों तक समृद्ध रहा। लगभग 55 शिलालेख इस स्थान पर विद्यमान हैं और इसमें से लगभग 12 जैनधर्म के हैं। यह महानगर 300 ग्रामों, व्यापार तथा साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियों से फूला फला था। यह एक शिक्षा का केन्द्र (घटिकास्थान) भी था। पुलिगेरे स्थान का नाम (पुलिकरा, पुरिकरा, पुरिगेरे, पुरिकरनगर और उनका संस्कृतरूप व्याघ्रपुर) लक्ष्मेश्वर के रूप में परिवर्तित हुआ। लगभग 1074 में इस जगह का नाम पुलिगेरे से लक्ष्मेश्वर कर दिया गया था। जो आज भी विद्यमान है। यह नाम महामंडलेश्वर लक्ष्मरस उपनाम लक्ष्मणनृप के नाम पर दिया गया था।

इस शहर के आसपास कन्नड बोली जाती थी तथा साम्राज्य के विज्ञ लोगों ने इसका कई सौ वर्षों तक समर्थन किया। बहुत पहले से पुलिगेरे धार्मिक स्थान के रूप में फूला फला। विद्यमान पुरालेख यह स्थापित करते हैं और इस बात पर जोर देते हैं कि छठी सदी के पूर्व से ही यह जैनों के अधिवास का स्थान था। लिखित अभिलेख निश्चित रूप से कहते हैं कि यह राजघरानों का पवित्र स्थान था। शंखजिनालय सबसे प्राचीन मंदिर तथा चालुक्यों की इष्टदेवता था, जिसने राजघरानों से मुक्त हस्त से आनेवाली निधियों का आनंद लिया। चालुक्य राजवंश का यह प जिनालय था। शंख लांचन (अर्थात् प्रतीक, चिह्न) है, जो 22 वें तीर्थंकर नेमिनाथ की पहचान है। अतः यह अनुमान लगाया जाता है कि शंख जिनालय के मूलनायक नेमिनाथ थे, गर्भगृह में प्रतिष्ठित देवता थे।

आदिकदंबों के युग में सारा परिदृश्य उत्तरोत्तर तेजी से परिवर्तित होने लगा। इस युग में जैन आश्रमों, गुफाओं तथा मंदिरों को दिए गए अनुदान अनगिनत शिलालेकों में दर्ज होने लगे जो कि उनके प्रभामंडल का ही एक उदाहरण है। साम्राज्य में जैनधर्म का उदय एक शक्तिशाली धर्म के रूप में हुआ था। जिसने राजनीतिक साहित्यिक-सांस्कृतिक परिदृश्य पर अपना वर्चस्व कायम किया। सम्राटों तथा उनके सामंत राजाओं ने इस धर्म को प्रभावी तथा महत्वपूर्ण (वैशिष्ट्यपूर्ण) बनाने के लिए अपना सहयोग दिया। संक्षेप में जैनधर्म ने राज्य के धर्म के रूप में प्रतिष्ठित स्थान पाया था।

भद्रबाहु तथा उसका राजभक्त चन्द्रगुप्त का स्थानांतरण जैन प्राधानता की पहली लहर थी। फिर बनवासी कदंबों तथा गंगों के उत्तराधिकारियों का काल उनके प्रभाव का दूसरा चरण था। चालुक्यों के समर्थन में जैनधर्म का उल्लेखनीय प्रभाव तथा उर्वरशक्ति दोनों दक्षिण के इतिहास पर अपनी अमिट छाप छोड़ गये। यह प्रभाव तथा वर्चस्व कुंतल विषय में उनके अधिनस्थता की तीसरी लहर मानी गयी और यह ऐसा ही चलता रहा और राष्ट्रकूटों के काल में अपने वर्चस्व तथा लोकप्रियता की चरम सीमा पर पहुँचा जो जैनों के प्रभाव का चौथा चरण था।

राजनीतिक रूपरेखा उनके रागरंग में अक्सर बदलती रही। सांस्कृतिक विकास में राजनीतिक संघर्ष बाधा नहीं था। निर्ग्रथों की प्रेरणा से कला, शिल्पकला, साहित्य तथा वास्तुकला में उनके उल्लेखनीय कार्य दर्ज हैं। विशाल राजतंत्र के शहरी तथा ग्रामीण तानेबाने में इसका प्रभाव घुलमिल गया था। राजाओं ने किलेबंदी कर अपने राज्यविस्तार के लिए अपने शत्रुओं से रक्तरंजित युद्ध किए थे। धार्मिक नेताओं,

धर्मगुरुओं तथा उपदेशकों ने निरंतर सौहार्दपूर्ण संपर्कों से, अपने प्रवचनों से प्रार्थनागृहों का निर्माण कर गैरपादरी वर्ग को जीत लिया था। इस प्रक्रिया में साधु संतों ने जैन धर्म के सिद्धान्त तथा उसके प्रयोग एवं उसकी आध्यात्मिक संस्कृति में विशिष्ट योगदान दिया। समकालीन अन्य धर्मों के प्रति समरसता तथा स्यादवाद से विशेषीकृत थी।

जैनधर्म ने अपनी साख बड़े तथा समृद्ध शहरों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में बनाए रखी थी। चाहे जैन धर्म को निम्न दर्जे का भी सहयोग था किंतु इस मत को मुख्यतया व्यापारी समुदाय, राजपरिवार तथा अधिकारियों का समर्थन था। श्रेष्ठी व्यापारी, देशी विदेशी हर तरह के वस्तुओं का व्यापार करते थे और सुदूर प्रदेशों में भी आते जाते थे। नायाब तथा मूल्यवान वस्तुओं की निर्यात आयात करते थे। व्यापारी वर्ग शक्तिशाली लोकप्रिय तथा सत्ताधारी राजाओं से मान्यता प्राप्त थे, इन्होंने उनको पट्टनश्रेष्ठी तथा राजश्रेष्ठी जैसे नाम दिए थे। फिर परवर्तियों ने राजदरबार में सम्मान का स्थान भी लिया था। ऐहोळे के 500 व्यापारी समुदाय के लोगों ने सामाजिक सम्मान भी प्राप्त किया।

अविच्छिन्न बल प्राप्त करने तथा सांस्कृतिक क्रांति के कारण जैन धर्म सैद्धान्तिक विचार विनिमय का केंद्र बना। आध्यात्मिक चर्चा के परिणाम स्वरूप धर्म के अंतर्गत ही वर्तमान युग की प्रारंभिक सदी में विभिन्न शाखाओं तथा स्कूलों का निर्माण हुआ। निर्गुणों की मठवादी पद्धति से प्रादेशिकता तथा ग्रामीणता का प्रचुर प्रसारण उत्पन्न होने लगा। रूपांतरण के प्रथम खंड को यापनीय संघ कहा गया था, पांचवीं सदी में एक मार्मिक तथा हिला देने वाली सी भूमिका निभाने पहुँचा। यापनीय संघ ने श्वेतांबर तथा दिगंबरों के मध्य स्थान ग्रहण किया। विडंबना यह है कि दोनों परवर्ती संघों ने यापनीय को विधर्मी समूह कहकर खंडन किया।

परंपरा से सामंजस्य रखते हुए तथा साहित्यिक साक्ष्य के आधार पर यापनीय संघ का उदय कर्णाट में ईसा की दूसरी सदी में हुआ। इसकी जड़ें इस उपजाऊ जमीन में गहरी गड गई थी। बनवासी के पूर्वी कदंबों के राजा ही पहले थे जिन्होंने संघ की छोटी बडी तथा दृढ़ शाखाओं समेत उसका सम्मान किया तथा उसे समान स्तर का उच्च पद दिया।

चालुक्यों ने भी समान नीति अपनायी और यापनीय संघ को दृढ़ किया। बाद में इस संघ का राष्ट्रकूटों ने पोषण किया, जिन्होंने चालुक्यों को हटाकर अधिकार ग्रहण किया था और फिर बाद में एक बार कल्याण के चालुक्यों ने राष्ट्रकूटों की

जगह ली। यापनीय संप्रदाय पूर्णरूप से फूला फला और परवर्ती चालुक्यों के शासनकाल में अपनी चरम सीमा पर पहुँचा और विडंबना यह कि राजसी चालुक्यों के पतन के साथ हमेशा के लिए यह संप्रदाय लुप्त हुआ।

यापनीय मुनि चैत्यवासी साधू बन गए। उनके आश्रमों तथा प्रार्थनागृहों के प्रबंध के लिए कदंब राजा मृगेश्वरम तथा हरिवर्म ने पांचवीं सदी में विशाल भूभाग तथा ग्रामों का दान किया। गंग राजा अविनीत 469-529 गंग राजा ने आय का प्रबंध किया, उपजाऊ जमीन और पुल्लुर में मंदिर हेतु घर दिया जहाँ यवनिका (यापनीया) संप्रदाय के साधू रहने लगे थे।

संक्षेप में प्रांत में स्थित जैनधर्म के विभिन्न संप्रदाय तथा रूपों का सहअस्तित्व तथा प्रसार ने उसका विशद विकास किया। यह सब युगीन सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन ले आया, जिसमें जैनधर्म वास्तव में दृढता से स्थापित हुआ और पुरी तरह से समृद्ध हुआ, उसे निधियाँ तथा जमीन दान रूप में प्राप्त हुई। मठवासियों आदर्श ने सांसारिकता के प्रति आसक्ति का मार्ग खोल दिया और इस प्रकार मठवासी भट्टारकों का उदय हुआ, जिन्होंने विशेष धर्मप्रांत के प्रमुख रूप में कार्य किया। मठवासी पद्धति के परिवर्तित परिदृश्य में आश्रम, मंदिर तथा अन्य स्थायी इमारतें असाधारणतः बढ गई और धर्मनिष्ठा को उनके विशेष मठों की ओर आकर्षित करने के लिए एक दूसरे से स्पर्धा करने लगे थे।

जैनधर्म के पूर्वी मठों में ऐहोळे, कल्लवप्पू, किसुवोलाल का समावेश था। शासन पद्धति के भव्य शहरों में कुपण (कोपन, कोप्पळ), पलासिका, पोम्बुलच (पोम्बुरच, होबुज) हुमच, पुलिगेरे, पुन्नाटा आदि शहरों ने चालुक्यों के इतिहास में संप्रदाय के महत्वपूर्ण तथा मजबूत संघ के रूप में स्थान पाया। राजप्रतिबद्धता संपूर्ण तथा दिल को छूने वाली थी। बादामी महल के संरक्षण के कारण निर्ग्रंथ की गतिविधियाँ प्रबल तथा विस्तृत हुई थी। जैन संप्रदाय इस धरती का अत्यंत प्राचीन धर्म है, विशेष रूप से उसकी प्राचीनता 'स्व का कायाकल्प' तथा 'पौरुषेय' आज भी जीवित है। जिसके लिए चालुक्यों की सहायता के प्रति आभारी होना चाहिए। यह युग जैन संघ के लिए महिमामयी तथा वैभवशाली रहा जिसने साहित्य तथा वास्तुकला पर अपनी छाप छोड़ी।

संघ के गणों तथा गच्छों का नाम जैन-पीठ के आधार पर रख दिए गए थे। पुन्नाडु एक प्रदेश था जो मैसूरु तथा मडिकेरी जिलों के मध्य दोआब प्रदेश था। आदिकदंब राजा मयुराशर्मा (325-45) के शिलालेखमें यह कहा गया है कि पुन्नाडु

(पुनाट) के अक्ष में हेग्गडदेवनकोटे तालुका (मैसूर जिला) के आसपास का प्रदेश तथा विशेषकर कावेरी तथा कापेनी नदी के मध्य के प्रदेश में जैनधर्म पनपा। टालमी (PTOLEMY) (लगभग दूसरी सदी) ने पुनाट स्थान का पुन्नट के नाम से उल्लेख किया है। तमिल किवता कलवलि (ईसा की छठी सदी) में यह कहा गया है कि चेंगन्नन, चोलों के प्रमुख पुनलनाडु उपनाम पुन्नाड का स्वामी था। जैन संघ जो इसी पुन्नाडु में उदित हुआ था, का नाम इसी देश के नाम पुन्नाट अथवा पुन्नाड संघ रखा गया। किंतु किच्चुरु (कीर्तिपुर) पुन्नाडु की राजधानी थी अतः पुन्नाडु संघ को एक और नाम मिला किच्चुरु संघ, जो कि पुन्नाडु के राजधानी के नाम पर रखा गया था। कीर्तिसेनमुनि (740) पुन्नाडु संघ के अग्रदूत अमितसेन आचार्य का शिष्य था। सातवीं सदी पूर्व के श्रवणबेलगोळ के शिलालेख में कीर्ति संघ के साधुओं का उल्लेख हुआ है। ख्यातनाम महाकवि जिनसेन प्रथम तथा 'हरिवंश' (783) के लेखक कीर्तिमुनिसेन के शिष्य तथा अमितसेन आचार्य के परमशिष्य थे। ये साधु तथा सन्यासी दक्षिण के किच्चूर से उत्तर के काठियवाड के वर्धमान (वाढवान) की ओर स्थानांतरित हुए, जहाँ जिनसेन ने अपना महाकाव्य रचा।

जैन तथा बौद्ध संप्रदाय दोनों समान रूप से वातापी के गुफा मंदिरों में अपनी अपनी प्रतिष्ठा पा रहे थे। जो कि मोहित करनेवाला सिद्धान्त था। जैन तथा बौद्ध समकालीन थे किंतु पहले का उद्भव बहुत पहले हुआ था जबकि दोनों का 1000 वर्षों तक सहअस्तित्व था। विशेषरूप से कर्नाटक में बौद्ध धर्म बादामी के चालुक्यों के काल में समान स्थान पा नहीं सका। दोनों धर्मों में कई समानताएँ होने पर भी बौद्ध धर्म कर्नाटक तथा दक्षिण से नष्टप्राय हो गया। अतः सामाजिक-राजनीतिक क्षेत्र में अपना प्रभावी स्थान बनाए रखने बौद्ध धर्म के लिए वातापी चालुक्यों का युग ही अंतिम था और फिर उसके बाद जो था वह बिलकुल उलटा था। राष्ट्रकूटों के पतन के साथ बौद्ध धर्म भी इस प्रदेश पर अपनी पकड़ नहीं रख पाया और उसी समय जैनधर्म को महत्व मिला और संभवतः बौद्ध के अनुयायियों पर जैनों ने जीत हासिल की। स्मरण किया जा सकता है कि आजीवक पहले जैनधर्म में विलय हो गए थे।

अतः इस अवधि को स्थायी तथा सुरक्षित स्वर्ग कहा जाएगा जहाँ श्रमण संस्कृति का प्रसार हुआ। उसके प्रभाव की तीव्रता पारदर्शी थी। साम्राज्य को दृढिभूत बनाने में जैनों ने सीधी तथा निर्णायक भूमिका निभायी थी। और एक बार फिर निर्ग्रथों की गतिविधियों में ज्वार आया था।

जैन धर्मनिष्ठ ई.पू. तीसरी सदी के अंत तक मूर्तिपूजक बन गए जिसकी साक्ष्य कंकाली-टिला (मथुरा) के उत्खनन में मिलती है।

चतुर्विध संघ-

चतुर्विध संघ के प्रति चालुक्यों का रुख ठंडा या तटस्थ नहीं था। बल्कि वे अतिग्रहणशील थे तथा अनेकान्त के प्रचार में गहरे जुड़े थे। विभिन्न धर्म, मत, संप्रदाय या मुनियों के नाम, आश्रम तथा मठों के समर्थन की प्रकृति के बारे में शिलालेख रोचक जानकारी देते हैं। जैनों के प्रार्थना स्थान के उपयोग में लायी गयी जमीन का लगान तथा देय की रोधक्षमता का उल्लेख तत्कालीन शिलालेखों में किया गया है, जो इस बात का ठोस प्रमाण है कि अहिंसा के सिद्धान्त को उनका सक्रिय सहयोग था। चालुक्यों के युगीन संदर्भ में जैन वास्तुकला की उत्पत्ति तथा स्वरूप का लेखा वैविध्यपूर्ण वैभव का समग्र प्रतिबिंब प्रस्तुत करता है। स्थानीय शैली तथा माध्यम की चर्चा बाद के दो अध्यायों में की जाएगी।

वास्तव में जैन धर्म का प्रतिस्पर्धी बौद्ध धर्म को मिलने वाली सहायता की अपेक्षा कई अधिक मात्रा में लंबे समय तक जैनों को जो सहायता प्रचुर मात्रा में मिली इसका परिचय हमें साम्राज्य के अन्य क्षेत्रों में उसके स्थान से ही मिलता है। सत्ताधीश घरानों का सहयोग अत्यंत महत्वपूर्ण था किंतु यही संप्रदाय के लंबे समय तक जीवित रहने के लिए काफी नहीं है। जैन तपस्वियों के समुदाय का संप्रदायों तथा उपसंप्रदायों में विखंडन की पहल आचार्य अर्हदबलि (पहली तथा दूसरी सदी) से की गई थी जिसने महावीर से उत्पन्न मूलसंघ को व्यवस्थित रूप से चार तपस्वियों के दलों जैसे सेन, देव, सिंह तथा नंदि संघ में विभाजित कर दिया था। ये मुख्यतया दक्षिण दिगंबर संप्रदाय थे। निर्गठ संप्रदाय में प्रत्येक तपस्वी अपने दल को घोषित करने के लिए अक्सर अपने नाम के आगे अपने दल के उपभाग का नाम लगा देते थे, जैसे जिनसेन, समन्तभद्र देव, वादिभसिंह तथा माघनंदी। जिससे इनके सामुदायिक या सांप्रदायिक उपभाग की सूचना मिलती है। लेकिन संप्रदाय-उपसंप्रदाय के नाम को अपने वैयक्तिक नाम के साथ जोडना अनिवार्य नहीं था।

हालाँकि इस पुस्तक के लेखक चालुक्यों के शिलालेख में उल्लेखित देवगण को बराबरी का दर्जा देने के लिए ललक उठता है। वह यह कहता है कि देसिगण संभवतः देवगण का अग्रदूत था। आश्चर्य की बात यह है कि देसिगण यह शब्द

तत्कालीन अभिलेख में आता नहीं है। सेन संघ के दो धर्मगुरु आदिसेन पंडित तथा देवेन्द्रसेन पंडित के विद्यमान नाम यह निश्चित करते हैं कि-

1. सेन संघ का जन्म कर्नाटक में हुआ।
2. सेन संघ बादामी चालुक्यों के काल में अस्तित्व में आया।
3. दक्षिण से उत्तर में उसका प्रसार हुआ।
4. राष्ट्रकूटों के युग में वह अपनी भव्यता की चरमसीमा पर पहुँचा था।

चतुर्विध संघ कई केंद्रों में फला फूला। निर्गठ के संप्रदाय की धर्म सभा में इसका समावेश किया गया, शिलालेख मूलसंघ को सबसे उत्तम बताते हैं, देसिगण, शिरोबिंदु था। मूलसंघ का कौंडकुंदान्वय जैनधर्म में अत्यंत प्राचीन है। मूलसंघ मुनियों की प्रभुत्वपूर्ण संस्था जिसका संदर्भ कई शिलालेखों में आया है, वह महावीर द्वारा स्थापित की गई थी। इंद्रभूति गौतम पहला धर्मगुरु था। फिर भद्रबाहु उसे दक्षिण लेकर आया फिर वह कई गणों तथा गच्छों में विभाजित हुआ। कौंडकुंद आचार्य धर्माधिकारी ने निश्चित समूह को समेकित कर महासंघ का निर्माण किया जो दक्षिण की दुर्भेद्य शक्ति थी। (नागराजय्या हंप.- जैन कारपस ऑफ कोप्पल इनस्क्रिपशन : 1999: P. 30). संभवतः कर्नाटक के मूल संघ का पहला उल्लेख बादामी चालुक्य राजवंश के विनयादित्य के शासन काल में हुआ होगा।

मूलसंघान्वय देवगण तिलक ध्रुवदेवाचार्य धर्मोपदेशार्त (SII:XX. No. 4. A.D. 683 : PuligeRe, p.-3) मूलसंघ का मूल नाम था 'निर्ग्रंथ महाश्रमण संघ' था। जब द्रविड संघ तथा काष्ठसंघ अपनी आवश्यकता के कारण अपने मूल तने से अलग हुए तो मूल शाखा का मूल संघ के नाम से पुनः नामकरण किया गया। आंध्रप्रदेश, कर्नाटक तथा महाराष्ट्र ने मानक समय गणना के लिए शालिवाहन (सातवाहन) शक पद्धति का अनुसरण किया जिसका परिलक्षित बिंदु था ई.स. 78.

शक प्राचीन सीथिया (काले सागर के उत्तर प्रदेश का निवासी) जनजाति के थे जिन्होंने गुजरात, कठियावाड़ प्रदेश पर अपना प्रभुत्व बनाए रखा जो जैनधर्म का मजबूत स्थान था तथा जैनधर्म के समर्थक। जैनमुनि सर्वनंदी ने पल्लराग सिंहवाहन के कार्यकाल (436-60) के द्वितीय वर्ष में 25 अगस्त 408 को कांची में ब्रह्मांडविज्ञान पर (निर्ग्रंथ प्रतिनिधि-नियमाकुल पाद्य) लोकविभाग पूर्ण किया था, जिसमें उसने शक वर्ष 380 (अर्थात् 458) का उल्लेख किया है।

जैन धर्मगुरुओं तथा विद्वानों को इस समय गणना के प्रति एक लगाव सा हो गया था और उन्होंने दक्षिण में धर्म मत के प्रचार-प्रसार में स्वयं को ढाल दिया।

फलस्वरूप अपने धर्म के प्रचार में इन्होंने इस समस गणना के लिए अनुकूल वातावरण का निर्माण भी किया था।

बादामी के चालुक्य सम्राट दक्षिण भारत के शक युग के प्रचार में प्रमुख माध्यम सिद्ध हुए थे। क्योंकि उन्होंने एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया था और इस समय तक जैन धर्म कर्नाटक से दृढ़ संबंध स्थापित कर चुका था और यह मत तथा उसके धर्मगुरु अपने धार्मिक विश्वास से चालुक्य राजाओं का समर्थन पा चुके थे। इसका चित्र उपस्थित करने वाली दो प्रमुख घटनाएँ हैं...पहली घटना है, बादामी की जैनगुफाएँ तथा ख्यातनाम विद्वान तथा कवि रविकीर्ति, जो पुलकेशि द्वितीय का रक्षक था और उसने पुलकेशी की प्रशस्ति की रचना की थी। चालुक्यों ने अपने अभिलेखों में शक युग का प्रयोग किया था और इस प्रयोग के कई उदाहरण विद्यमान हैं। एक बहुचर्चित घटना का यहाँ उल्लेख है। बादामी के एक पाषाण पर लिखे पुरालेख में शक 465 का उल्लेख है। इसमें पुलकेशी प्रथम के द्वारा किले के निर्माण का वर्णन है। दूसरी घटना है, ऐहोळे में पुलकेशी द्वितीय की प्रशस्ति जिससे दो युगों में तिथियाँ हैं... कलि 3735 तथा शक 556 (देसाई पी.बी. (संपा) (दूसरा सं) 1981:82-89)।

जैन परंपराएँ तथा दंतकथाएँ प्रतिष्ठानपुर शहर के इर्द गिर्द बुनी गई थी। जो सदियों तक जैनधर्म तथा जैनगुरुओं का एक मजबूत स्थान था। एक परंपरा के अनुसार सातवाहन राजवंश के एक महत्वपूर्ण राजा हाल ने जिन (जैन) की शिक्षा का लाभ पाया था और प्रतिष्ठानपुर में कई जैन मंदिर बनवाये थे। परंपराएँ हाल को शालिवाहन गणना का संस्थापक मानती हैं। तथापि कर्नाटक के संदर्भ में चालुक्य ही पहले राजा थे जिन्होंने शक गणना को लागू किया। जैसा कि इतिहासकारों ने कहा है, इसका कारण जैनों का प्रभाव ही है।

राजा गर्दभिल्ल, भृगकच्छ (लाटदेश का भरूच, दक्षिण गुजरात) के एक अमानुषि राजा ने जैन साध्वी तथा आचार्य कालक उपनाम आर्यशाम (प्रथम सदी) की बहन सरस्वती का अपहरण किया और आचार्य के विरोध की उपेक्षा कर उसे पाने के लिए आगे बढ़ा। आर्य कालक पडोसी साहिस (पारसकुल के शक) के पास गया ताकि वह गर्दभिल्ल पर अपनी पुरी शक्ति से वार कर उसे कुचल सके। जैन साध्वी सरस्वती को गर्दभिल्ल से छुड़ा लिया गया और फिर एक बार उसे जैनों के अंतःपुर में प्रवेश दिया गया। यह सारी घटनाएँ शक शासन की स्थापना की ही आगाज़ थी। तथापि, जैन राजकुमार विक्रमादित्य ने उसके बाद विदेशी

शासक शकों को विफल किया और एक नए युग का शुभ संकेत दिया। इस प्रकार वर्ष 57 लोकप्रिय विक्रमी शक गणना का प्रारंभ हुआ। इसके अलावा शालिवाहन शक संवत्सर, आंध्र कर्नाटक तथा महाराष्ट्र में ई.स. 78 चैत (युगादी) महीने से विशाल स्तर पर प्रचलित हुआ।

कर्नाटक का इतिहास (A History of Karnataka) पुस्तक के विद्वान संपादक ने इस शक गणना को स्वीकृत करने के पीछे क्या कारण रहे थे इसका विस्तार से वर्णन किया है।

पहले गुजरात-काठियवाड प्रदेश जो शक शासकों के राज्य में मिला हुआ था। जैनों का प्रमुख केंद्र था और सत्ताशक्ति इस धर्म के समर्थन में आगे बढ़ी। अतः जैन धर्मगुरु तथा विद्वान, जिनको इस कालगणना के प्रति आसक्ति निर्माण हुई थी, वे दक्षिण में, इस धर्म के प्रचार प्रसार में सक्रियता से लग गए। इसी के साथ इस धर्म का प्रसार करते समय, इस काल गणना के प्रति अनुकूल वातावरण भी उन्होंने ही निर्माण किया था। इस संदर्भ में, इस बात का विशेष ध्यान रखना होगा कि जैन गुरु सिंहसुरि जिसने सुदूर दक्षिण कांचि में लोकविभाग कृति का निर्माण किया था। उसमें शक वर्ष 380 (अर्थात् 458 ए.डी.) का उल्लेख किया है।

दूसरा, पश्चिम मालवा के उज्जयिनि को शक राजाओं के राज्य में मिलाया गया था, जो खगोलिय अध्ययन का प्रमुख केंद्र था। सदियों तक समय की कसौटी पर शक वर्ष गणना को कसा गया था और वह उस पर खरी भी उतरी थी। अतः खगोलिय गणना के लिए उज्जयिनि के पंडितों ने इसे योग्य समझा। खगोलिय गणना के लिए इस गणना का चयन बाद में मगब्राह्मणों के रूप में आने जाने वाले वराहमिहिर जैसे शहरों के श्रेष्ठ खगोलज्ञ के द्वारा तथ्य के आधार पर और दृढ़ किया गया। ये मग-ब्राह्मण मूलतः मगि भ तर्क थे, जो शक द्वीप अथवा सेष्ट (शकों क देश परशिया) के मूल प्रवासी थे।

बादामी के चालुक्य सम्राट, जिन्होंने विशाल साम्राज्य का निर्माण किया था, दक्षिण भारत के कई क्षेत्रों में शक युग का प्रचार करने वाले प्रमुख माध्यम थे। इस समय तक जैन धर्म कर्नाटक में पूरी तरह से स्थापित हो चुका था और यह धर्म तथा उसके धर्मगुरु अपने अन्य धार्मिक विचारधाराओं के साथ चालुक्य राजाओं से समर्थन पा चुके थे। इसके दो प्रमुख उदाहरण हैं ...एक, बादामी की जैन गुफाएँ तथा पुलकेशी द्वितीय का आश्रित प्रसिद्ध जैन कवि तथा विद्वान रविकीर्ति जिसने पुलकेशी द्वितीय की प्रशस्ति की रचना की थी। शक युग का उल्लेख

चालुक्यों ने अपने अभिलेखों में करना शुरू किया था और इसके दो उदाहरणों का उल्लेख उचित होगा, बादामी के एक पाषाण के पुरालेख में शक 465 का उल्लेख हुआ है और जो पुलकेशी प्रथम द्वारा निर्मित किले का वर्णन करता है और द्वितीय है... ऐहोळे में पुलकेशि द्वितीय की प्रशस्ति, जिस पर दो युगों का उल्लेख है, कलि 3735 तथा शक 556.1

कन्नड देश में, छठीं से तेरहवीं सदी तक पुरालेखों में शक वर्ष, शक काल, शक-नृप-काल, शक-नृप राज्याभिषेक संवत्सर आदि का उल्लेख अक्सर पाया गया है। विद्वान कवि रविकीर्ति इस तीथि का इस प्रकार उल्लेख करता है कि, शक राजाओं के अधिकारियों तथा तत्कालीन विद्वानों में शक युग के प्रति एक प्रकार की जागृति थी।

तेरहवीं तथा उसके बाद की शताब्दी में विदेशी मुसलमानों द्वारा उत्तर भारत पर किया गया आक्रमण तथा कब्जा, विदेशी मूल की काल गणना शक गणना के प्रति विद्वदजनों में विरोधी प्रतिक्रिया का कारण बना। संभवतः इससे प्रतिष्ठान में सातवाहन का शासन तथा सातवाहन राजाओं की शक तथा अन्य विदेशियों पर विजय की पुरानी स्मृतियाँ जग गई होंगी। शक काल गणना, जो अपनी गहरी जड़ें जमा चुकी थी, उसको उखाड़ा नहीं जा सका था। अतः उन्होंने इसी प्रकार की अन्य काल गणना का निर्माण किया और उसमें उन्होंने सातवाहन नाम जोड़ दिया। इसप्रकार, उसके बाद संशोधित कालगणना शालिवाहन शक का प्रचलन हुआ।

यह परिवर्तन मुख्यतः प्रतिष्ठान के जैन विद्वानों तथा ज्योतिषियों ने लाया था। इस प्रकार के नाम परिवर्तन के लिए न्यायोचित तथा युक्तिसंगत विवरण की आवश्यकता है। सातवाहन अथवा शालिवाहन राजाओं के द्वारा इसके उद्भव तथा स्थापना के पूर्वानुमान पर यह बात कही गयी थी। इसी के साथ साथ, पौराणिक कल्पित राजा शालिवाहन की कथा को बहुत ज्यादा महत्व यह कहकर दिया गया कि उसके पास चमत्कारी शक्तियाँ थी और उसने प्रतिष्ठान पर शासन भी किया था।

जैन परंपरा तथा दंतकथाएँ प्रतिष्ठानपुर के इर्द गिर्द बुनी गई थी जो सदियों तक जैन धर्म तथा जैनगुरुओं का केंद्र स्थान था। एक परंपरा के अनुसार सातवाहन राजवंश के एक महत्वपूर्ण राजा हाल ने जिन की शिक्षा तथा सिद्धान्त का लाभ प्राप्त किया था और प्रतिष्ठानपुर में कई जैन मंदिर बनवाए थे। परंपराएँ हाल को शालिवाहन गणना का संस्थापक मानती हैं।

शालिवाहन शक का संशोधित नामकरण अनैतिहासिक तथा ऐतिहासिक दोनों

थावह अनैतिहासिक इसलिए था क्योंकि पूर्वानुमान था कि सातवाहन अथवा शालिवाहन राजा ने इस काल गणना का प्रारंभ किया था और यह ऐतिहासिक घटना के उचित स्रोत होने का संकेत करता है जो उसके संशोधित नामकरण का आधार है।

यह घटना निश्चित ही विदेशी शकों पर सातवाहन राजा के विजय की रही होगी। इसका आरोप 'हाल' राजा पर नहीं लगाया जा सकता। सातवाहनों के इतिहास के पुनः रचना के अनुसार 'हाल' का सेनाप्रमुख राज परिवार से संबंधित नहीं था और पराक्रमी योद्धा तथा सेनापति की अपेक्षा एक विद्वान तथा लेखक था। इस प्रकार नए संशोधित शालिवाहन संवत्सर के साथ एक ऐतिहासिक महान व्यक्ति गौतमपुत्र शतकर्णी के पूर्वानुमान के आधार पर संबंध जोड़ना न ऐतिहासिक रूप से उचित होगा न हाल के प्रति न्यायसंगत होगा। अतः यह बात हमें स्पष्ट रूप से ध्यान में रखनी होगी कि प्रारंभिक काल गणना का उद्भव शक शासन से हुआ था न कि गौतम पुत्र शतकारणी और ना ही सातवाहन राजवंश के अन्य किसी राजा ने ऐतिहासिक घटना के रूप में काल गणना की सचमुच स्थापना की थी। (A History of Karnataka: (eds): Desai P.B. Srinivas H. Rithi B.R, Gopal. (2nd revised): 1981:87: 89).

इस कालावधि में प्रमुख जैन प्रार्थना मंदिरों के समूहों को अभिलिखित किया गया है। परलुरु तो आधुनिक हळ्ळूरु के नाम से जाना जाता है जो बागलकोट जिले के पूर्व में 20 किलो मीटर की दूरी पर स्थित है। यह कभी जैनों के प्रधान केंद्र के रूप में फूला फला था। प्राप्त साक्ष्य उसकी प्राचीनता और उसके पूजनीय तथा श्रेष्ठ मठों के अस्तित्व में होने की गाथा कहते हैं। नविलूरु संघ ने सातवीं सदी के प्रारंभ से कार्य करना प्रारंभ किया था। जबकि परलुरु संघ उससे भी प्राचीन है और वह पांचवीं सदी से ही सक्रिय था। परलुरु संघ से निकली एक शाखा को मृगेशवर्म (475-80) से राज अभिज्ञान तथा प्रचुर मात्रा में अनुदान भी मिला था। पांचवीं सदी के शिलालेख में उसे बहत परलूरु कहा गया है। चालुक्यों के शासनकाल में इस स्थान ने विस्मयकारी जैन पीठ के रूप में अपनी प्रमुख भूमिका निभायी थी। परलूरु बादामी से बहुत दूर नहीं था। राजधानी बादामी के दक्षिण पश्चिम में नविलूरु था जब कि पश्चिम में हूलि।

मंगलेश के शासन काल के कांस्य पत्रों में यह अभिलिखित है कि कनकशक्ति के युग में रविशक्ति के द्वारा 50 निवर्तन जमीन किरुव केरे के शांतिनाथ जिनालय

को दी गई थी। हूलि, एक जैन पीठ के रूप में लगभग 700 वर्ष छठी सदी के उत्तरार्ध से 12वीं सदी के अंत तक फूलता फलता रहा। अर्थात् बादामी चालुक्यों से उसकी शुरुआत हुई तो कल्याण चालुक्यों तक वह नष्ट होने की कगार पर था। उपर्युक्त कांस्य पत्र के पुरालेख का प्रारंभ ही शांतिनाथ जिन के उद्घाटन से होता है और श्रीनीधि तथा अभयनंदी परलूरु संघ तो गुरुओं के नामों का उल्लेख करते हैं। चालुक्यों ने पाषाण-संरचना का विशेष समर्थन किया। उन्होंने एक अवधि तक जिनेन्द्रभवन को शिलाओ में ही देखा जब कि प्रार्थनागृहों का निर्माण करने के लिए ईंट, चूना तथा लकड़ियाँ कलाकारों और भक्तगणों को प्रिय थे।

परवर्ती कदंबों के शासनकाल के दौरान निर्गठ के मंदिर निर्माण की विकास प्रक्रिया में और गति पायी। परिणामस्वरूप स्वतंत्र भक्ति की परिकल्पना का उद्भव हुआ। जैनों को राज्यसमर्थन मिलने के कारण उन्होंने आगे छलांग लगाई जिससे कला तथा साहित्य के क्षेत्र में गतिविधियां होने में सहायता मिली। यक्ष तथा यक्षी की परिकल्पना ने एक नया आयाम दिया और जिससे जैनधर्म में एक रोचक प्रवृत्ति का निर्माण हुआ। देवी पद्मावती (अर्हत पार्श्व की जिनशासन देवता) पूर्वी कदंबों की ईष्ट देवता थी। पूर्वी कदंबों ने छठी सदी के प्रारंभिक वर्षों में अपने निवास के पास ही कल्लीलि में एक प्रार्थना मंदिर बनवाया था। संभवतः देवी पद्मावती का यह सबसे पुराना मंदिर रहा होगा। लगभग इसी दौरान वातापी के चालुक्यों का आगमन हुआ और जिनके लिए देवी अंबिका प्रिय आराध्य देवता बन गई और रविकीर्ति ने इस देवी को साम्राज्य में लोकप्रिय बना दिया।

प्रार्थना मंदिर निर्माण करने के अलावा दान देने के लिए दानशालाओं का निर्माण किया गया और उनको प्रमुख जिनालयों से जोड़ा गया।

दानशाला प्रवर्त्तनार्थम (SILXX.4. AD:683 हडगिले ग्राम)

दानशाला निमित्त नगरद दक्षिण श्यामदिशी संबोळल नाम ग्रामं सर्वबाधा परिहारं हदद (ibid. No. 5. AD. 723)

दानशाला निर्वहनार्थम कड्डुमग्रामा (ibid 6.730)

धर्मगामुंड निर्मापित जिनालय दानशालादि संवृद्धय विज्ञापितेन (KI. vol No.3. AD. 750 . आडूर. p. 7)

जिनशालाओं के निर्माण करने तथा उसे लोकप्रिय बनाने का श्रेय इसी युग को जाता है। आडूर, हडगिले तथा पुलिगेरे में बनाई गई दानशालाएँ बहुत संपन्न थीं। जिनायतन तथा दानशालाओं का निर्माण धर्मगामुंड के द्वारा ऐहोळे के पास आडूर

में किया गया था। ग्रामप्रमुख गामुंड तथा करणों के द्वारा आठ मत्तर की जमीन प्रार्थना के लिए जिनेंद्र भवन को दान में दी गई थी।

वाटग्रामपुर, आधुनिक वाडनेर (महाराष्ट्र, नासिक जिला, मालेगांव तालुका) पूर्वी चालुक्यों से लेकर परवर्ती चालुक्यों तक के काल से सातवीं सदी से बारहवीं सदी तक जैनों का प्रमुख केंद्र के रूप में पनपा था। छठी सदी में बनाई गई धाराशिव की छः जैन गुफाएँ बादामी तथा ऐहोळे की जैनगुफाओं से मिलती जुलती या समकालीन सी लगती है। आठवीं सदी के पूर्व अकोला तथा पुणे जिले की अबिका की प्रतिमा को मिलाकर 27 कांस्य की प्रतिमाओं का किया गया संचय और सातवीं सदी की खुदी हुई कांस्य की प्रतिमा आदि साम्राज्य के उत्तरी भाग में जैनों की स्थिति के विश्वसनीय पुरातत्विय दस्तावेज हैं। ई.स.659 के पुरालेख की एक उक्ति किसुवोळल महानगरे विख्याते स्थित्व महानगर किसुवोळल (लालनगरी) के महत्व को ही प्रतिबिंबित करती है। यह लाल नगरी (किसुवोळल) प दकल के नाम से भी जानी जाती है।

ऐहोळे, बादामी तथा किसुवोळल के आसपास का प्रदेश कई ऐतिहासिक तथा अविस्मरणीय घटनाओं से महकता था। चालुक्यों के आने से पहले भी वह प्रदेश सातवाहनों तथा कदंबों की पैतृक संपत्ति की गवाह रहा है। हाल ही में की गई खोजों में पाए गए इटों से बनाए जिनभवन के अवशेष पूर्वी चालुक्यों के काल के होंगे, ऐसा माना जाता है। पट्टदकल के विद्यमान जैन नारायण मंदिर के पीछे का प्राचीन जिनभवन तथा कायोत्सर्ग की मूर्दा में खड़े एक तीर्थंकर की प्रतिमा की खोज यह निश्चित करती है कि इस प्रदेश में जैनों को समाज में परमादर का स्थान प्राप्त हुआ था। इन ऐतिहासिक घटनाओं के मद्देनजर विद्यमान प्राचीन जैनमंदिरों को अगर क्रम से रखा जाय तो सबसे प्रथम आता है, हलसी (पलसिका) का पत्थरों में बना जैन मंदिर जो पांचवीं सदी के उत्तरार्ध में बना था। उसके बाद आता है छठी सदी में उत्खनन के दौरान प दकल में पाया गया ईटोंवाला मंदिर और ऐहोळे का मेगुडी (634) पुलिमेरे का शंख जैनमंदिर भले ही वे आज भी विद्यमान है किंतु उनका कई बार नवीनीकरण किया गया था और जो क्रमशः छठी तथा सातवीं सदी के थे।

चालुक्यों के राजपरिवार का शंख जिनालय मंदिर जिसके दरवाजों की चौखटों तथा स्तम्भों की नींव के लिए मात्र पत्थरों का इस्तेमाल कर ईटों से बनवाया गया था, नष्टप्राय कर दिया गया था।

समयोचित जैनधर्म के अनुरूप वातापी चालुक्यों की कालावधि मूर्तिविज्ञान के लिए महत्वपूर्ण थी। यह वही समय था जब परिकर तथा आठ प्रतिहारों के दल का क्रमबद्ध विकास हुआ। ऐहोळे, बादामी पदकल तथा पुलिगेरे जो भारतीय वास्तुकला की कुंजियाँ थी, ऐसे ही प्रयोग के प्रमुख स्थान थे। तीर्थंकरों तथा शासन देवताओं की प्रतिमाएँ, परिकरों अर्थात् उनके संवकों आदि समेत परिपूर्णता के साथ प्रकट हुई थी। प्राचीन केंद्रों से प्राप्त ऐसे शिल्प इसकी साक्ष्य देते हैं और अन्य केंद्रों से प्राप्त प्रतिमाओं के सह अस्तित्व का भी समर्थन करते हैं। देवी अंबिका की प्राचीन मूर्ति, ज्वालामालिनी यक्षी, श्याम यक्ष, अर्हत पार्श्व का शिल्प, बाहुबलि, देवी पद्मावती, धरणेंद्र आदि इन्हीं जगहों की प्रतिमाएँ हैं। इसकी चर्चा आगे होगी।

धार्मिक संपन्नता से संबंधित विशेष स्थानों का ऐतिहासिक दृष्टि से किया गया सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन समाज में उनकी भूमिका पर प्रकाश डालता है। तीर्थक्षेत्रों के इतिहास पर किए गए ऐसे अनुसंधान कई छोटे बड़े पवित्र स्थानों, केंद्रों को उद्घाटित करते हैं और जिसने श्रमण संघ तथा उपदेशकों के समान ही समर्थकों को जोड़ने में महत्वपूर्ण तथा प्रभावी भूमिका निभायी थी। लगातार संपर्क ने इस धर्म के प्रचार प्रसार के साथ साथ उसे जीवित रखने में सहायता पहुँचायी।

करटगेरी (गदग जिला.) का जिनालय जिसे शांतिभागवद चैतालय कहा जाता था, जो सोलहवें तीर्थंकर को समर्पित था, राजसमर्थन से संपन्न था। रविशक्ति ने (सेंद्रक का आश्रित) इस मंदिर को जमीन दान में दी थी। आचार्य अभयनंदी परलूर संघ के श्रीनीधि आचार्य के शिष्य, इस दान को प्राप्त करनेवाले थे। कोंडिशुलर कुप्पा उपनाम कीर्तिवर्म ने जेबुलगिरी के चेदिका के सामने एकशिल्प खड़ा किया, जिसे कलियम्म ने बनवाया था। प्रतिष्ठित विद्वान संतों की आकाशगंगा ने इस स्थान तथा काल की प्रशंसा की है।

पुरालेखों में उल्लेखित कुछ आचार्यों के नाम निम्नलिखित हैं...

आदित्य पंडित, देवेन्द्र पंडित, जयदेव पंडित, प्रभाचंद्र, अभयनंदी आचार्य, श्रीनीधि आचार्य, विद्यानंद, वासुदेवगुरु, उदयदेव, विजयदंभ, रामदेवाचार्य, चिक्कण देवाचार्य, आदिसेन पंडित, देवेन्द्रसेन पंडित, इंद्रनंदी, शिवनंदी, सिद्धनंदी, जयनंदी, सिरिनंदी, अजितसेन, धर्मसेन, पुष्पनंदी तथा बलदेव। जैन त्यागियों की पंक्ति में उनको बनवासी या चैत्यवासी बनने की अनुमति थी। चालुक्यों के काल में परिभ्रमी तथा निवासी त्यागी दोनों सक्रिय थे। इस वक्त यह देखा नहीं जाता था कि वे गृहस्थ हैं या गृहत्यागी। बस इस बात पर विशेष जोर दिया जाता था कि

वे यति जीवन के तत्वों का कड़ा पालन करें। इन विद्वान आचार्यों ने अपने जीवनकाल में जैन परंपरा की भव्य-दिव्यता देखी थी। सम्राट का दरबारी सलाहकार तथा आध्यात्मिक गुरु होना अपने आप में एक बहुत बड़ा प्रभावी कार्य था जो कि एक जैन त्यागी के लिए अपने अंतिम अनुशीलन में सतकर्म ही था।

कई धर्मगुरु मूलसंघ के थे। किचुर संघ नविलुरु संघ, पुन्नाट संघ, सेन संघ तथा यापनीय संघ का भी अभिलेखों में उल्लेख किया गया है। यह सारी शाखा-उपशाखाएँ राज सहायता तथा गृह-परिवारों के कारण समृद्ध हुई थी। हालाँकि राज कवि रविकीर्ति को यापनीय संघ का उपासक माना जाता था। लेकिन अभी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि आदित्य तथा देवेन्द्र पंडित ने सेनवार प्रमुखों से गोसास (गोदान) लिया था जबकि जयदेव पंडित पुलिगेरे के शंख जिनालय का प्रभारी था।

यह सर्वविदित तथ्य है कि प्राचीन काल में धर्म के विकास के लिए राज समर्थन आवश्यक था। चालुक्य, जैन समर्थन में सक्रिय थे। जैन संघ के साथ चालुक्यों का संबंध तथा उनकी सक्रियता संक्षेप में निम्नलिखित है।

1. पुलकेशी द्वितीय ने राजकवि का समर्थन किया, जिसे राजवंश का प्रामाणिक इतिहासकार माना जाता है।
2. पुलकेशी के सामंत राजा दुर्गशक्ति ने 500 निवर्तन की जमीन लक्ष्मेश्वर के नेमिनाथ की स्थायी पूजा हेतु दी थी।
3. जिन का कट्टर उपासक कीर्तिवर्म द्वितीय ने जैनों के प्रचार प्रसार के लिए प्रचुर मात्रा में निधि दी थी।
4. जैन धर्म में दीक्षित विजयादित्य ने शंखजिनालय में प्रार्थना हेतु कहम ग्राम दान में दिया और इसे प्राप्त करनेवाला था उदयदेव पंडित उपनाम राजगुरु निरवदय पंडित।
5. विनयादित्य ने मूलसंघ देवगण के जैन भक्त ध्रुवदेवाचार्य को हडगिले (शिरहट्टी तालूका) ग्राम उपहारस्वरूप दिया था।
6. राजकुमारी कुंकुम महादेवी ने पुलिगेरे में आनेसेज्जया बसदी का निर्माण किया था। उसके बड़े भाई विजयादित्य ने गुडिकेरे ग्राम (शिग्गाँव तालूका) दान में दिया था। पुरालेखिय डाटा के अनुसार आनेसेज्जया बसदी को प्रचुर मात्रा में निधियाँ मिली थीं तथा उसे राजप्रतिष्ठा भी प्राप्त हुई थी।

7. एक शिलालेख जो कि विक्रमादित्य के शासनकाल के पाँचवें वर्ष के ताम्रपत्र का ही प्रतिरूप है, में जैन-मूलसंघ देवगण को अनुदान मिलने का उल्लेख है। शके 608 का यह रिकार्ड पाँचवें विभाग में दिए गए संदर्भ के समान है। अन्य विवरण की चर्चा इस पुस्तक में अन्य जगह पर की जाएगी।
8. बिक्रिराणक (विक्रमादित्य द्वितीय) ने शंख जिनालय के परिसर में स्थित जिनभट्टारक मंदिर तथा दानशालाओं को सेमबोळाल ग्राम (श्याबाळ, शिरहट्टी तालूका) दान में दिया था। राजा विक्रमादित्य रणवलोक का संक्षिप्त रूप विक्रिरोणक था।
9. कीर्तिवर्म द्वितीय के अधिनस्थ कलियम्म गामुंड ने ई.स.751 में जेबुळगेरि में चेदिया बनवाया था। चालुक्यों के शासनकाल का यह संभवतः अंतिम जैन मंदिर था।
10. विजयादित्य ने, अपने शासनकाल में 34वें वर्ष में रक्तपुर (किसुवोळाल) में रहते समय, लगभग 729 के आसपास उदय पंडित देव को एक ग्राम दान में दिया था। पुलिगेरे के ये धर्मगुरु, पूज्यपद वंशक्रम के शिष्य, मूलसंघ देवगण के थे। उसने विजयादित्य तथा उसके पिता विनयादित्य से आदर सम्मान प्राप्त किया था।
11. रविशक्ति, सेंद्रक सामंत राजाओं ने 50 निवर्तन की जमीन 600 में किरुव केर के शातिनाथ जिनालय को दान में दी थी। संभवतः मन्नत की कार्यसिद्धी के उपलक्ष्य में दान दिया होगा।
12. शंख जिनालय के साथ ही पुलिगेरे के निकट का धवल जिनालय भी राज परोषकार के कारण समृद्ध हुआ था। 733-34 में वीरयोद्धा सम्राट विक्रमादित्य ने धवल जिनालय को दान दिया था।

संभ्रान्त जैन संघ ऐतिहासिक दस्तावेज तथा भोजपत्रों पर लिखी पांडुलिपियों का महत्व समझता था। अतः जहाँ भी उन्होंने प्राचीन दस्तावेजों का ह्रास होते देखा, उसकी प्रतिलिपि बनाकर रखी।

ये पुरालेख जैन धर्म-गुरु द्वारा दिए जाने वाले सहयोग का प्रमाण है, जिन्होंने जंगलों तथा पहाड़ों की एकांत गुफाओं में अपना आध्यात्म जीवन व्यतीत किया था। जैन धर्म लोगों के प्रेम स्नेह तथा तत्कालीन शासकों के समर्थन से स्थापित हुआ और मुक्त संरक्षण का अनुभव लिया।

धर्म तथा धार्मिक केंद्रों के साथ पहचान बनाए रखने के लिए उदार दान तथा अपनी संपत्ति का सहभाजन एक गंभीर चिंता का विषय था। साथ ही प्रभू की निस्वार्थ तथा असीम उदारता, जीवन में गुण अर्जित करना ही था। चालुक्य राजा पश्चाताप से शांत रहने वाले सरदार नहीं थे। बल्कि वे वीरोचित एवं श्रेष्ठ थे। कला, वास्तुकला तथा ऐसी सृजनात्मक कलाओं के प्रति राजाओं की तीव्र रुचि क्यों थी इसकी चर्चा आगे के अध्यायों में की जाएगी।

कर्नाट देश, बल्कि कुंतल देश का जैनों के साथ दृढ़ संबंध इस युग के प्रारंभ से ही था। अतः हर क्षेत्र में जैन संघ में जैन संघ फूलता फलता समृद्धी करता गया। राज प्रतिष्ठित, राजाओं तथा रानियों ने खुलकर जैन धर्म से मित्रवत व्यवहार किया और इन प्राचीन मत के अभिरक्षक होने का आनंद लिया।

रविकीर्ति ने अपने आश्रयदाता की वंशावली तथा उपलब्धियों को अपनी सृजनात्मक प्रतिभा की काव्यात्मक उत्कृष्टता से इतिहास को संकलित किया। पुरालेखों के विश्व में उसका ऐहोळे शिलालेख उपयुक्त स्थान प्राप्त करता है।

चालुक्यों के युग का एक मात्र ज्ञात कवि तथा कर्नाट के इतिहास का प्रथम राजकवि, जिसने (सव्यसाची) प्रवीणता तथा कवित्व को समान रूप से सहजता से प्राप्त किया था, पुलकेशी का मित्र, मार्गदर्शक तथा दार्शनिक था। साथ ही साथ वह दण्डनायक तथा मंत्री भी था। इस प्रकार रविकीर्ति एक साथ बहुत कुछ था, इससे यह ज्ञात होता है कि उसका कितना सम्मान किया जाता था और शासकों का उसकी योग्यता तथा खरे व्यक्तित्व पर कितना विश्वास था। पुलकेशी ने एक ऐसा योग्य उदाहरण प्रस्तुत किया कि उसके बाद के राजाओं ने उसका अनुकरण किया। यहाँ से सूत्र लेते हुए तथा इस प्रारूप का विस्तार करते हुए परवर्ती शासक जैसे अरिकेसरी द्वितीय (930-55) तैलप्पा द्वितीय (973-97) जगदेकमल्ल जयसिंह (1015-42) तथा वीरबल्लाळ (1173-1220) आदि ने क्रमशः पंप, रत्न नागवर्म तथा जन्न को अपना राजकवि तथा सेनानायक बनाया। सृजकों को शासकों तथा अमीरों से सम्मानरूप से उपहार तथा दान प्राप्त करने का विशेषाधिकार था।

मंदिर निर्माण की गतिविधियों को विक्रमादित्य प्रथम के पुत्र विनयादित्य के शासनकाल में बढ़ावा मिला। प्राचीन त्रिकुटाचल मंदिर, जो त्रिमूर्ति को समर्पित किया गया है। विनयादित्य की प रानी महादेवी की खातिर लोकादित्य, एळा अरस ने अलमपुर में स्वर्ण ब्रह्म देवालय की स्थापना की। चालुक्यों के वंशक्रम में विजयादित्य का शासनकाल (696-733) सबसे दीर्घ शासनकाल रहा है।

चालुक्यों के निवास की महिलाएँ वास्तुकला को समर्थन देने में सबसे आगे थीं।

1. विनयावती (विजयादित्य की माता) ने बादामी में एक और त्रिकुटाचल (जंबुलिंग देवालय) की स्थापना की।
2. कुंकुम देवी ने पुलिगेरे में आनेसेज्जेय जिनभवन का निर्माण किया।
3. विनापोटि राजगणिका तथा विजयादित्य की प्राणवल्लभा महामुकुटेश्वर को रत्नपीठ, रजतछत्र तथा जमीन दान में दी थी।

कळ्वप्पु की व्युत्पत्ति पर काफी चर्चा परिचर्चा की गई किंतु कोई भी व्युत्पत्ति उक्त पुस्तक के लेखक समेत किसी की भी व्युत्पत्ति ग्राह्य नहीं हो पा रही है। कळ्वप्पु इस शब्द का वास्तविक अर्थ है गीध की पहाड़ी। इस सुझाव का समर्थन करते हुए मैं एक और उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ। तमिलनाडु का कळुगुमलाई जिसका अर्थ भी गीध की पहाड़ी ही है। कळ्वप्पु तथा कळुगुमलै दोनों देशी शब्द हैं जो संस्कृत के गृद्धकूट के समान हैं जो जैन तथा बौद्ध दोनों के ऐतिहासिक अभिलेखों में प्रकट होते हैं। इस संदर्भ में राजगृह में स्थित प्रसिद्ध गृद्धकूट का भी स्मरण किया जा सकता है। जैन धर्मगुरु गृद्धपिच्छि को धारण करने के लिए जाने जाते हैं। कोंडकुंदाचार्य को दक्षिण भारत की जैन परंपरा में महत्वपूर्ण पद गृद्धपिच्छाचार्य की उपाधि मिली थी। अतः तमिलनाडु में कळुगुमलाई तथा कर्नाट देश में कळ्वप्पु दक्षिण गृद्धकूट है जो सादगी तथा मृतक की शांति के लिए जाने जाते हैं।

शंखजिनालय युग के सभी जैन मंदिरों में उच्च सिद्ध हुआ है। इसी के सादृश्य, ऐहोळे में स्थित राजकवि रविकीर्ति का जिनेंद्रभवन, युग का एक अन्य शिखर साबित हुआ है। क्योंकि इसे एक शिखर की चोटी पर बनवाया गया था। यह मंदिर अपने उपनाम मेगुडि से बहुत लोकप्रिय हुआ। मंदिर में देवी अंबिका की प्रतिमा की प्रतिष्ठापना के आधार पर कुछ इतिहासकार तथा विद्वानों ने यह संकेत दिया है कि यह मंदिर 22वें तार्थंकर नेमिनाथ को समर्पित किया गया था। मेगुडि सबसे प्राचीन जिनालय अपने भव्यशिल्प में आज भी विद्यमान है। इस विशेष भव्य शिल्प रचना का पता चलते ही कई जैन मंदिरों में इस शिल्प का ही अनुकरण किया गया। मेगुडि, पत्थरों के मंदिर को रविकीर्ति द्वारा ई.स. 634 में रचित अद्वितीय शिलालेख ने अमरता प्रदान की।

ऐहोळे में स्थित जैनगुफा (शहर के दक्षिण पश्चिम भाग) छठी सदी के अंतिम

वर्षों में जिसका उत्खनन किया गया था, वह बादामी से कुछ दशक पहले की है। वर्णक्रमानुसार तथा शैली अनुसार पहली गुफा कीर्तिवर्म के शासनकाल की है तो दूसरी मंगलेश के काल की। ऐहोळे तथा बादामी की जैन गुफाओं के कलाकार भिन्न-भिन्न थे।

इस काल का जैनकला तथा शिल्पकला को जो योगदान मिला उसकी कोई बराबरी नहीं कर सकता तथा गुणवत्ता की मात्रा की दृष्टि से यह प्रचुर है। इसकी विस्तार से चर्चा शिल्पकला के अध्याय में होगी।

जैन मंदिर पाँच प्रकार की गतिविधियों जैसे प्रार्थना, अन्नदान, चिकित्सा, आश्रय तथा शिक्षा के केंद्र थे। अंतिम चार को एक ही शब्द चतुर्विध-दान में समाहित किया जा सकता है। धार्मिक आवेग का संवर्धन करना मात्र इसके पार्श्व की भावना नहीं थी। बल्कि सौहार्दपूर्ण वातावरण निर्माण करना भी था, जिससे मनुष्य स्वस्थ तथा खुशहाल जीवन व्यतीत कर सकें।

नविलूर (धारवाड जिला? तालूका) प्रधान जैन स्थान के रूप में प्रसिद्ध हुआ जिसमें कई सारे आश्रम और मठ थे। किसी एक जैन संघ का जन्मस्थान होने के कारण नविलूर का नाम कीर्तिभवन में उत्कीर्णित हुआ है। इस जैन संघ का नाम भी इसी स्थान पर आधारित नविलूर जैन संघ रखा गया है। इस संघ का उद्भव सातवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में हुआ और उसके बाद इस स्थान ने सारे राज्य तथा संप्रदाय के भीतर अपना प्रभाव बनाए रखा है। संक्षेप में 700 के प्रारंभ में नविलूर संघ की ऐसी विशिष्टता थी कि उसने प्रारंभिक छः शिलालेखों में अपना स्थान अंकित कर लिया था। (EC. VOL. II. (R) NOS. 38 (35), 112 (97), 117 (102), 123 (108), 132 (114) : EC. VOL. XI. NO.118). नविलूर संघ का नविलूर गण था जो समूह का एक दल (शाखा) था और आजिगण उसका उपभाग था। नविलूर के नाळगामुंड, गोविंदपाडी (गंगावाडी क्षेत्र) के बेळगोळ के शिलालेख में आते हैं। पुष्पसेनाचारी, राजमतिकति, अनंतमतिगति, बाळांबाकांटी और उसके शिष्य वुजक्का कुछ मुनि तथा साध्वियाँ (माताजि) ने शांति से सल्लेखन का व्रत धारण कर तथा हर प्रकार के अन्न से परहेज रखकर अपनी अंतिम सांस चंद्रगिरि की चोटी पर लेने हेतु नविलूर से कळवप्पु (श्रवणबेळगोळ) तक नंगे पैर यात्रा की थी।

नविलूर यह नाम दो शब्दों के जोड़ से बना है...नविल तथा उरु। नविलु का अर्थ है मोर और उरु का अर्थ है गाँव अर्थात् मोरों का गाँव। ये दोनों शब्द कन्नड भाषा के हैं। कळवप्पु के एक पुरालेख के प्रारंभ में स्थान का उल्लेख नविलूर संघ

के रूप में हुआ है तो दूसरे भाग में इसका उल्लेख मयूर संघ के रूप में हुआ है। इसी के साथ साथ नविलूरु ने एक और नाम अर्जित किया है और वह है मयूरपुरा लोकमहादेवी तथा त्रैलोक्य महादेवी 'हैहय राजवंश' की राजकुमारियाँ तथा विक्रमादित्य की रानियाँ ने अपने पतियों द्वारा कांची पर लगातार तीन बार विजय प्राप्ति के उपलक्ष्य में किसुवोळाल में लोकेश्वर मंदिर (विरुपाक्ष) तथा त्रैलोकेश्वर मंदिर (मल्लिकार्जुन) बनवाया। चालुक्य शिल्पकला निर्दोष कला के चरमबिंदु की साक्ष्य है। सर्वसिद्धि आचारी तथा गुंड अनिवारिता आचारी, इन दो निपुण शिल्पकारों ने उपर्युक्त दोनों मंदिरों को इतने निर्दोष रूप से सजाया और तराशा ताकि वे दोनों मंदिर युग की कला के अप्रतिम उदाहरण सिद्ध हो। इन कुशल तथा दक्ष कलाकारों को पेरजेरेपु अर्थात् 'उदार स्वागत' की उपाधि से नवाजा गया। उस युग में शिल्पकला की रेखानगर-शिखर-शैली बहुत लोकप्रिय हुई।

यापनीया संघ ने आदिकदंबों के बाद उभरे नए साम्राज्य में कितनी घुसपैठ की, यह अध्ययन का एक और विषय है। ऐसा माना जाता है कि राजकवि रविकीर्ति इस यापनीया संघ से संबंधित था। तथापि मैं यह प्रश्न आगे के अनुसंधान हेतु रखना चाहूँगा।

जैन स्मारकों के अवशेषों को पुलिगेरे के आसपास में जो बिखरा दिया गया है वह यही दर्शाता है कि जैन मंदिर को कितना नुकसान पहुँचाया गया है।

पुलिगेरे में स्थित पथरीली चट्टान का दूसरा हिस्सा सत्याश्रय (पुलकेशी) चालुक्य रणपराक्रमणक और उसके पुत्र एरेय्या का उल्लेख करता है। शिलालेख में चैत्य शंखजिनेंद्र को दी गई जमीन का भी उल्लेख है। रेवरेंड जे.एफ. फ्लीट ने सही ही देखा है कि उपर्युक्त रिकार्ड पूर्व तिथि का ही है जिसकी दूसरी प्रतिलिपि भावी पीढी के लिए तैयार की गई थी। ताम्रपत्र से शिलाओं पर, टूटी शिलाओं से अच्छी शिलाओं पर, भूर्जपत्र से अन्य भूर्जपत्रों पर की जानेवाली प्रतिलेखन की यह प्रक्रिया असामान्य नहीं थी। फ्लीट का यह परीक्षण है कि संभवतः रणपराक्रमणक रणराग (पुलकेशी प्रथम का पिता तथा जयसिंह प्रथम का पुत्र) का भी यही अभिप्राय रहा होगा, इसकी उपेक्षा नहीं जा सकती। अतः पुलिगेरे के पुरालेखों को विचाराधिन रखते हुए छठी सदी के मध्य के माने जा सकते हैं। इसके अलावा सेंद्रक राजा दुर्गशक्ति का उल्लेख स्पष्ट रूप से इसकी संपुष्टी करता है। प्राप्त रिकार्ड, अप्रामाणिक तथा अन्य जैन समुदाय के साथ राजा पुलकेशी से संबंध की पुष्टी करते हैं।

जैन आश्रमों तथा मठों को प्राप्त होने वाले अनुदान, उपहार तथा निधियों का सबसे अधिक हिस्सा व्यापारी समुदाय या श्रावकों की अपेक्षा राजा रानियों की ओर से आता था। आदिकदंबों के काल में स्थितियाँ लगभग इसी के समानांतर थीं। किंतु राष्ट्रकूटों के शासनकाल के दौरान तथा उसके बाद जैन संघ धर्म को जीवित रखने के लिए राजपरिवारों से इतर परिवारों ने भी निधियों तथा अनुदान देने में भाग लिया। इसी प्रकार आदिकदंबों तथा चालुक्यों के शासन काल की अपेक्षा गंगों तथा राष्ट्रकूटों के काल से राजपरिवार तथा आम परिवार की महिलाओं ने भी श्रमण संघ की धार्मिक गतिविधियों में अपनी रुचि दिखाई। इस प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन यह दर्शाता है कि जैन संघ की गतिविधियाँ में महिलाओं की भूमिका की ग्राफ रेखा ऊपर की ओर बढ़ती है।

चालुक्यों के साम्राज्य में निम्नलिखित ग्राम तथा शहर जैनों के प्रमुख तथा महत्व के केन्द्र थे—

आडूरु, ऐहोळे, अण्णिगेरी, बादामी, बंकापुर, भाल्कि, गडिकेशवार, जेबुळगेरि, कळ्वप्पु, केल्लिपूसूरु, किसुवोळल (पट्टदकल) कोगलि, कोपण, मल्लसमुद्र, नविलूरु पलसिगे (हलसि) परलूरु (हल्लुरु) पोम्बुलच, (हुंचा) तथा पूलि (हूलि) जैन समुदाय का सारसर्वस्व, उन्नति, प्रगति तथा प्रवाह इन स्थानों पर बहुत सक्रिय थे।

हळ्ळूरु परलुरु संघ का मूल स्त्रोत था तो नविलुरु संघ का प्रधान स्थान था। देवगण मूलसंघ का एक महत्वपूर्ण देवगण अंग था जो चालुक्य साम्राज्य में केवल सिकुडा ही नहीं बल्कि लुप्त हुआ और देसिगण को ऊभारने का मौका मिला। मैं यह सुझाव देने का साहस करता हूँ कि देवगण, देसिगण में घुलमिल गया होगा और राष्ट्रकूटों के शासनकाल में मुनियों का लोकप्रिय अध्याय ही जैसे खुल गया हो। इसी के समान, जैन मुनियों की आवासी इकाई, परलूरु संघ का भी कोई निशान चालुक्यों के युग के बाद नहीं मिलता। आश्चर्य की बात है कि तत्कालीन जैन रिकार्डों में कोंडकुंद अन्वय का कहीं कोई उल्लेख नहीं है।

लगभग पाँचवीं सदी के प्रारंभ में मंदिरों के परिसर के पास मठ बनाए गए थे। आचार्य, वरिष्ठ मुनि, धर्मग्रंथ के ज्ञाता और जिसने धर्मशास्त्र का प्रतिपादन किया, गृहत्यागी तथा घुम्मकड थे, वर्षाकाल को छोड़कर जब उनको चातुर्मास का पालन करना होता, चातुर्मास के बाद ये धर्मगुरु एक जगह पर लंबे समय तक नहीं रहा करते थे। भट्टारक तथा विद्वानों ने, मध्यकालीन युग में केंद्रीय आकृति रची। उन्होंने मठ संबंधी व्यवस्था की पहल की और उनके पट्ट (पीठ) के समय उनको

पूर्वाधिकारी से अनुवांशिक नाम दिए गए पुलिगेरे मठ के तत्कालीन प्रमुख अनुदेशक को पंडित कहा जाता था और भट्टारक शब्द का इस्तेमाल नहीं किया जाता था। हालाँकि ये पंडित दिगंबर पंथ, मूलसंघ के थे और उनका दल देवगण था।

पंडित शब्द भट्टारक का समानार्थी लगता है, अर्थात् आश्रम तथा समुदाय का प्रमुख जो कि मंदिर प्रशासन का प्रमुख भी होता था। उदाहरणार्थ, श्रवणबेळगोळ तथा मूडबिदरे जैन मठ के प्रमुख को उसी प्राचीन तथा पारंपरिक चारुकीर्ति पंडित नाम से जाना जाता है। पूर्ववृत्त के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि आदिसेन पंडित देवेन्द्रसेन पंडित, जयदेव पंडित, विजयदेव पंडित तथा निर्वध पंडित आदि भट्टारक थे तथा अपने धर्म प्रांत के प्रमुख थे।

इसी युग से यक्ष तथा यक्षी की पूजा तथा भक्ति में पारदर्शिता आयी। कर्नाटक में सबसे पहले अंबिका तथा सर्वाह यक्ष की पूजा का प्रारंभ हुआ। तदुपरांत 23 वें तीर्थंकर अर्हत पार्श्व के आराध्य देवी पद्मावती और धरणेंद्र, तथा आठवें तीर्थंकर चंद्रप्रभा के आराध्य देवता विजय उपनाम श्याम तथा ज्वालामालिनी देवी की पूजा का प्रारंभ हुआ।

अंबिका का दुर्लभ वैशिष्ट्य यह है कि वह पूर्वी तथा परवर्ती चालुक्यों की कुलदेवता बन गयी। कोल्लिपाक (कोलनुपाक) के मुख्य मंदिर में ही एक स्वतंत्र मंदिर में अंबिका की प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई जो उस युग में बहुत लोकप्रिय हुई थी, केशिराजा ने (चालुक्यों के शासनकाल का सामंत) मानस्तम्भ बनवाया और वे ही मकर तोरण बनाने के लिए कारणीभूत हुए थे।

अंबिकादेवी मठ के अन्य दो नाम थे— अंबरतिलक बसदी तथा अक्कबसदी। अक्का का अर्थ है बड़ी बहन और सामान्यतः इस शब्द का प्रयोग स्त्री को आदर देने के लिए भी किया जाता है। सायिपय्या दंडनायक— महाप्रधान तथा राज परिवार का गृह अधीक्षक (suprintendant) चालुक्य राजकुमार सोमेश्वर, त्रिभूवनमल्ल विक्रमादित्य (षष्ठ) (1076-1125) के पुत्र ने अंबिका यक्षी मंदिर के लिए ई.स. 1125 को पोळालु के समिपस्थ पाणुपुर ग्राम दान में दिया। यह ध्यान रखना भी बहुत आवश्यक है कि एक पुरालेख में इस मंदिर का चालुक्यकुल तिलक बसदी के रूप में उल्लेख किया गया है। (नागराजय्य हं प. : Apropos of Vikramaditya VI:1999: p. 38)

(पांडियूरु—हाडियूरु) आडूरु (हावेरी जिला हानगल तालूका) सातवीं सदी के प्रारंभ से प्रसिद्ध जैन केंद्र था। यह स्थान गांगि—पांडियूरु की तरह ही प्रसिद्ध था।

उस समय उस प्रांत पर सिंदरस का शासन था और फिर महादेवी अरस से प्रार्थना कर उसने कर्मगालूर की टंकी के नीचे की जमीन जैन देवालय को दान में दी थी। हालाँकि ऐसा माना जाता है कि सिंद तथा माघवत्ति अरस क्रमशः सिंद तथा सेंद्रक परिवार के थे। माघवत्ति अरस के सिंद प्रमुख होने की संभावना की उपेक्षा नहीं की जा सकती। वास्तव में सिंद तथा सेंद्रक दोनों का मूल एक ही था लेकिन बाद में दोनों की भिन्न भिन्न शाखाएँ हो गईं। इस पर अधिक विचार की आवश्यकता है।

संक्षेप में, आडूरु यह स्थान तेरहवीं सदी तक जैनों की नगरी के रूप में विशेष प्रसिद्ध था। पूरस्तगण के श्रीनंदी भारक की शिष्या तथा बंकापुर के पडेवल चट्टय्या की पत्नी, भागव्ते ने 1247 में आडूरु में उपवास धारण कर मृत्यु को प्राप्त किया था।

ऐसा विश्वास है कि प्राचीन तथा प्रसिद्ध पुलिगेरे नगर का निर्माण पहले चार युग के प्रथम कल्प में भगवान श्रीहरि ने किया था और तब उसका नाम विष्णुपल्ली था। फिर द्वापर युग में विशटराज के पुत्र श्वेत ने फिर से बनवाया और इस नगरी ने पुनिकर यह नाम अर्जित किया। लगभग ग्यारहवीं सदी के मध्य तक यह नगरी पुलिगेरे नाम से खूब प्रसिद्ध हुई और उसके बाद आधुनिक युग में इसे लक्ष्मेश्वर के नाम से जाना जाने लगा। संस्कृत में लिखित ऐरेय्यम्मा (600) के शिलालेख में इस नगरी को पुलिगेरे यही नाम दिया गया है जो इस बात को निर्धारित करता है कि वही अर्थात् पुलिगेरे ही उसका मूल नाम था। ऐरेय्यम्मा का उपर्युक्त शिलालेख यह भी बताता है कि पुलिगेरे दक्षिणात घटिका क्षेत्र था, अर्थात् पुलिगेरे दक्षिण में उच्च शिक्षा का केंद्र था।

चालुक्यों के युग में जैन संघ का बढ़ता प्रभाव बहुत सी साक्ष्यों द्वारा सिद्ध होता है। श्रीमद पुरिकरनगर प्रख्यात शंखजिनेंद्र पुलिगेरे 300 उपभाग, पुलिगेरे जैसे राजधानी शहर का अत्यंत प्रसिद्ध मंदिर था।

इस स्थान के उपलब्ध अभिलेखों में यह उल्लेखित है कि मध्यकाल के अंत तक अधिकतर जैन प्रमुख महामांडलिक तथा महासामंत इस प्रदेश पर शासन कर रहे थे। जैन राजपाल तथा सेनापति, जैसे बंकरस (835) बूतुग पेरमानंडी (935) मारसिंह (972) जयकेशिन (1038) तथा इंद्रकेसि (1100) आदि पुलिगेरे 300 के प्रभारी थे। (नागराजय्या एरडु वंशगळु : 1995.52-64)

एक अन्य शिलालेख (EI.Vol. XIII-329) में यह विस्तार से कहा गया है कि कुंतल प्रदेश में पुलिगेरे 300 तथा बेळवोल 300 एकदम सुंदर प्रांत थे, तथा भारत महीमंडल के आभूषण थे और पुलिकर प्रदेश की जनता भी शुद्ध तथा पारदर्शी शीशे के समान साफ थी। पुलिगेरे 300 की भौगोलिक सीमा में पुलिगेरे महत्वपूर्ण शहरों में से एक था जो मंदिरों के ऐश्वर्य तथा व्यापार से समृद्ध था।

बनवासी के आदिकदंबों ने श्वेतपट्ट * महाश्रमण संघ का (श्वेतांबर पंथ) का समर्थन किया था। आदिकदंबों के काल के लेखक विमलसूरि (473) ने अपने प्राकृत महाकाव्य पउमचरिय में श्वेतपट्ट पंथ का उल्लेख किया है। किंतु बादामी के शासनकाल के दौरान इसका प्रतिसरण हुआ। कुंतलनाडु में यह क्यों और कैसे पीछे हटा यह स्पष्ट नहीं है। इसके प्रतिसरण का कारण संभवतः अनुयायियों तथा राजनीतिक प्रोत्साहन का अभाव रहा होगा।

देवगण के आभूषण ध्रुव देवाचार्य (सातवीं सदी) देवगण तिलक ने जैन संघ का नेतृत्व किया और प्रार्थना मंदिरों के संपोषण के लिए मजबूत नींव रखी। उनके शिष्य चिकण देवाचार्य ने रामदेवाचार्य को अपना शिष्य बना लिया। रामदेवाचार्य के मुनि शिष्य जयदेव पंडिताचार्य ध्रुव देवाचार्य के नेतृत्व को स्वीकारा। मुनियों की उपस्थिति तथा नेतृत्व के कारण पुलिगेरे क्षेत्र ने साम्राज्य के अन्य समकालीन मठों से अधिक प्रसिद्धी प्राप्त की थी।

सेंबोळल ग्राम का उपहार, बेळवोल 300 उपभाग में स्थित हडगिले ग्राम का ग्रामदान 'सर्वबाधा परिहारम ददऊ दान' की इस प्रकृति की कुछ घटनाएँ जैन प्रार्थना-स्थलों का सामाजिक प्रतिष्ठा को ही दर्शाती है।

मूर्तिपूजा का प्रसार मंदिर संस्था के होने का संकेत करता है जो बस्ति या बसदी के नाम से जाने जाते हैं। बस्ती इस शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत वसती से ही हुई है जिसका अर्थ जैन मंदिर के रूप में लिया जाने लगा। तत्कालीन शिलालेखिय स्रोतों ने जैन मंदिर के निर्माण, जिन का पवित्रीकरण तथा अन्य गौण प्रतिमाओं का उल्लेख किया है। आडूरु, ऐहोळे बादामी, पुलिगेरे जैनों के आध्यात्मिक भाव तथा भक्ति की प्रधानता के साक्ष्य है। पूर्व मध्यकाल की सामाजिक धार्मिक गतिविधियों ने एक ऐसी मजबूत नींव रखी कि जिससे आने वाले वर्षों में मंदिर निर्माण की प्रक्रिया ने जोर पकड़ा।

जिन तथा अन्य आराध्यों की पूजा-प्रार्थना वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों स्तरों पर थी। इस युग में पार्श्व, महावीर बाहुबलि, ज्ञातिनाथ तथा संभवतः आदिनाथ और

शासनदेवियाँ देवता जैसे अंबिका, ज्वालामालिनी पद्मावती, श्याम तथा धरणेंद्र आदि को ज्यादा पसंद किया जाता था। उपलब्ध रिकार्ड यह बताते हैं कि इस धर्म को श्रेष्ठ तथा सामान्य सबका समर्थन प्राप्त था। चालुक्य जैनधर्म को समर्पित थे और कर्नाटक में जैनधर्म की गहरी जड़ें जमाने का श्रेय भी उन्हीं को दिया जाएगा। विद्यमान निर्गठ के स्मारक श्रेष्ठसंचालक तथा शिल्पकार की सौंदर्य दृष्टि के बारे में भरभर कर बोलते हैं, जिन्होंने अपने देवीदेवताओं का सुशोभित उपनिवेश बनवाया। इस काल के जैनधर्म की देवी-देवताओं के लक्षणों की चर्चा अगले दो अध्यायों में की जाएगी।

संक्षेप में, चालुक्यों के राज समर्थन से जैन धर्म भव्य-दिव्यता को प्राप्त कर लिया था। जैनों ने राजतंत्र के राजनीतिक, सांस्कृतिक जीवन में प्रतिष्ठित वर्ग रूपायित किया था। राज्य में पत्थरों में बनवाई गए गुफा मंदिरों तथा अन्य आश्रमों तथा मठों की संरचना के अलावा ऐहोळे, आदूर अण्णिगेरि, गुडिगेरि, हूलि के शिलालेखों तथा शंखबस्ति की छत पर पाये गए पाँच शिलालेख साम्राज्य में जैन संघ की साक्ष्य देते हैं। इसके सिवा अधिकतर सामंत राजा जैन धर्म के कर अनुयायी थे। यह विशाल साम्राज्य अक्षरशः प्रसिद्ध जैन केंद्रों, आश्रमों तथा मठों से व्याप्त था। इस युग का

लोकप्रिय धर्म जैन धर्म था जो दिन ब दिन और अधिक विकसित हो रहा था और राज तथा सामान्य जनों का समर्थन पाकर खूब फूला फला था।

१* अब तक विद्वानों ने श्वेतपट इस शब्द को श्वेतांबर का समानार्थी समझा था। अतः दिगंबर पंथ में इसपर पुनः विचार की आवश्यकता है। पाँच प्रकार के मुनि होते हैं, पुल्लक, बकुश, कुशील, निर्ग्रंथ तथा स्नातक अथवा केवलि। दिगंबर पंथ में मुनि समुदाय में प्रतिमा अथवा उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा के कई चरण होते हैं। ग्यारहवे चरण में तीन टुकड़ों के धवल वस्त्र धारण करनेवाले त्यागी को क्षुलक तथा एक ही धवल वस्त्र धारण करनेवाले को ऐलक कहते हैं। विशेष रूप से बनाए गए भोजन तथा निवास का भी वे स्वीकार करते हैं। कदंबों के शिलालेखों में निर्ग्रंथ तथा श्वेतपट का उल्लेख होने से श्वेतपट शब्द की व्याख्या क्षुलक तथा ऐलकों के समान सफेद वस्त्र धारण करनेवाले मुनि होती है, किंतु वे निर्ग्रंथ नहीं थे। श्वेतपट तथा श्वेतांबर दोनों शब्द देखने में समान लगते हैं पर वे समान है या भिन्न इसकी जाँच अभी होनी शेष है। श्वेतांबर शब्द के प्रथम उल्लेख तथा उसकी ठीक ठीक तारीख पर पुनःविचार की आवश्यकता है जिससे श्वेतपट शब्द का सही अर्थ परिभाषित हो सके।

अध्याय - छः

जैन शिल्पकला

भाग-अ

पार्श्व, महावीर, बाहुबलि

बादामी चालुक्यों की प्राचीनता तथा वैशिष्ट्य को असंदिग्धता से स्थापित करने का श्रेय कला तथा शिल्पकला के इतिहासकारों के निरंतर प्रयास तथा अनुसंधान को ही जाता है। दक्षिणी शिल्पकला के क्षेत्र में चालुक्यों के शासन में उत्खनन की अनोखी शैली तथा संरचनात्मक मंदिरों का शुभ-संकेत दिया था और विपुल मात्रा में स्मारकीय अवशेष पीछे छोड़ दिए।

चालुक्यों के युग में जैन संघ के उतार चढ़ाव की विशेषता पर विचार कर, उसके धीरे धीरे विकसित होने की प्रक्रिया का संक्षिप्त परिचय देने से, उचित परिप्रेक्ष्य में उनकी स्थिति को समझने में आसानी होगी।

अशोक के शिलालेख (XIII) यह घोषित करते हैं कि ऐसा कोई देश नहीं जहाँ ब्राह्मणों तथा श्रमणों का (बौद्ध तथा जैन) अस्तित्व ही नहीं होगा। जैनों ने कला, संस्कृति तथा साहित्य के विकास में

हमेशा अपना योगदान दिया है। बौद्ध तथा जैन धर्म दोनों समान गति से फूले फले और वैशिष्ट्यपूर्ण कला तथा शिल्पकला का विकास हुआ। (Ghosh, A:1989 : p. 161) फर्ग्युसन हेनरिच झिम्मेर तथा अन्यो का यह ठोस कथन है कि जैनों ने एक भिन्न शिल्पकला की शैली के निर्माण में योगदान दिया। एक विशेष शिल्पकला का वैशिष्ट्य, स्मारकों के विशेष संदर्भ में, जो जैनों को समर्पित थे, वे संख्या में अधिक और वैशिष्ट्यपूर्ण भी थे। आदिगंगों तथा आदिकदंबों ने कुंतलदेश में जैन शिल्पकला युग की पहल की। उन्नत जैन शिल्पकला को प्रवाहित करने का श्रेय बादामी शासन को जाता है। जैन शिल्पकला का प्रारंभिक स्वरूप ऐहोळे में दृष्टिगोचर होता है। ऐहोळे के साथ साथ बादामी की गुफाओं ने पाषाण-शिल्पकला का भव्य तथा स्वर्णिम अध्याय खोला। फिर भी हम पाषाणी शिल्प की परंपरा के अनुकरण को नज़र अंदाज नहीं कर सकते। मेगुडी, प्रगतिशील चालुक्यों तथा जैनकला के रचनात्मक मंदिरों का प्रारंभिक उदाहरण है। प्रतीक तथा ओजपूर्ण शैली में कठिन पाषाणों पर की गई रहस्यात्मक बिंब योजना अपना अमिट प्रभाव छोड़ जाती है।

जैन मूर्तिकला में चालुक्यों का युग एक मील का पत्थर था। मूर्तिकला की सबसे वैशिष्ट्यपूर्ण प्रवृत्ति, उदाहरण के लिए प्रसिद्ध प्रज्ञाता अर्हत पार्श्व तथा बाहुबलि के शिल्प, यक्ष-यक्षी की प्रतिमाएँ, उपसर्ग लक्षण तथा वर्णनात्मक फलक आदि इस युग के दौरान प्रारंभ हुए थे।

जब हम जैनकला के लक्षणों की बात करते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं कि उसे भारतीय कला तथा शिल्पकला की मुख्यधारा से अलग किया जा रहा है बल्कि उसके वैशिष्ट्यपूर्ण प्रवृत्ति की पहचान की जा रही है। जैन, धार्मिक शिल्पकला के प्रथम संरक्षक थे। उन्होंने कलाकारों तथा शिल्पकारों की उदारता से रक्षा की। शिल्पियों तथा मूर्तिकला के कई संघों ने जैन संस्था के लिए काम किया था।

आंचलिक परंपरा तथा मिथकीय संकल्पना के आधार पर जैनधर्म ने कई प्रकार की शिल्पकला तथा मूर्तिकला संबंधी रचनाओं का निर्माण किया था। कई बार यह नवप्रवर्तन तत्कालीन युग तथा प्रांत की शैली के अनुरूप होता था।

अनुभव तथा प्रयोग से मूर्तिकारों ने बनवासी के आदिकदंबों के पहले तथा उनके युग के दौरान जैन-शिल्पकला तथा मूर्तिकला संबंधी कुछ विशेषताओं को विकसित किया। किंतु बादामी चालुक्यों के काल में जैनभवनों की गतिविधियाँ न केवल बढ़ी ही बल्कि मानक भी बनीं। राष्ट्रकूटों तथा कल्याण के चालुक्यों के काल

में यह अपनी चरमसीमा पर पहुँची तथा होयसळों के शासन में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी।

प्रारंभ में चालुक्यों ने पाषाण-शिल्पकला की समृद्ध परंपरा को बनाए रखा। उन्होंने प्रदेश के नरम पाषाणों की मूर्तियों को शिल्प के लिए चुना, जैसे, बादामी तथा ऐहोळे में स्थित जैन गुफामंदिर। लेकिन तुरंत वे भी इमारती मंदिर बनवाने लगे। इसके लिए वातापी तथा आसपास के प्रदेश से नरम रेतेली चानों को खोदकर पत्थर लाए गए जिससे चालुक्यों के रचनाकारिता की मुहर छोड सके। उत्खननित जैन गुफाओं तथा विद्यमान भवन-मंदिरों में निम्नलिखित गुफाएँ अत्यंत महत्वपूर्ण है, जिसकी चर्चा क्रमशः की जाएगी।

1. जैनगुफा (मेण बस्ति) ऐहोळे, छठी सदी के अंतिम त्रैमासिक संभवतः 580
2. जैनगुफा संख्या 4 बादामी 595
3. मेगुडी, जिनेन्द्रभवन, ऐहोळे 634-35

शिल्पकला की इस शैली को चालुक्य शैली का नाम देते समय हम इसमें अन्य शैलियों के सम्मिलन की उपेक्षा नहीं कर सकते। यह एक संश्लिष्ट शैली या फिर मूल शैली भी हो सकती है। यह तो कलाकार थे, जिन्होंने अपने कौशल से शैली को रूपायित किया किंतु यह शैली तत्कालीन शासकों के नाम से जानी जाएगी।

जैनगुफा-पूर्ववृत्त

पाषाण शिल्पकला का इतिहास जैनगुफा मंदिरों के विवरण के बिना समझा नहीं जा सकेगा और ना ही वह पूर्ण है। भव्य दिव्य जैनगुफा मंदिरों ने पाषाण शिल्पकला के पोषण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जमीन में खुदवाई गई कड़ी सख्त पाषाण शैल्या निर्माण की प्रक्रिया की पहल ने गुफा मंदिरों के निर्माण के लिए मार्ग खोल दिया। जैनमुनियों ने महावीर के समय से ही प्रार्थना तथा आश्रय हेतु प्राकृतिक गुफाओं की खोज की। इस प्रकार की पाषाण शैल्यावाली गुफाएँ तमिलनाडु में ई.पू. तीसरी सदी से पायी गयी।

भारत की 1200 गुफाओं से 200 गुफाएँ जैनों से संबंधित थीं। जैनगुफा अथवा पाषाण शिल्पकला का विवरण एक तरफ से उदयगिरि की हाथी गुफा तथा खंडगिरि गुफाओं (ओरिसा?भूवनेश्वर) से प्रारंभ होता है, जिसका उत्खनन कलिंग राजा खारवेल (ई.पू. दूसरी-पहली सदी) ने करवाया था। जैनगुफा सरगाह (गमनस्थान)

राजा खारवेल के पुरालेख हाथी गुफा से संबंधित है जो बाद में दक्षिण तथा पूर्वी तट के प्रदेश के राजवंशों को प्रेरित कर गई। इसी प्रकार, पद्मासन मुद्रा में बैठी पार्श्व की प्रतिमा कुमारगुप्त के शासनकाल (425-20) में उदयगिरि की गुफा संख्या 20 में उत्खननित की गई थी, जिसने एक नई शैली को अनुप्राणित किया था।

कुंतलदेश में ऐहोळे तथा बादामी की दोनों जैन गुफाओं की ज्ञात तिथि छठी सदी का उत्तरार्ध है और निश्चित ही जिनेन्द्रभवन (मेगुडी) दिनांक 634-35) से पूर्ववर्ती है, जो कि प्राचीन गुफाओं का उपलब्ध उदाहरण है। ऐहोळे की गुफा, जो राजा कीर्तिवर्म प्रथम (566-97) के शासनकाल में बनायी गयी थी। संभवतः कीर्तिवर्म के बड़े भाई पुगवर्म (566) को श्रेय देने के लिए उत्खननित की गई थी। राजा मंगलराजा के शासनकाल की बादामी की गुफा संभवतः अपने बड़े भाई को श्रेय देने हेतु 595 में खुदवाई गई होगी। ऐहोळे की गुफा मीन वस्ति (मीन बसादि) के नाम से भी जानी जाती है, जो प्राचीन शिल्पकला की नीधि है, जो पूर्वी वैभव की गाथा कहती है और वहीं से दक्षिण में जैन शिल्पकला के बहुमूल्य अध्याय का आरंभ हुआ। वीथिका की भित्तियों पर खुदवाई गई पार्श्व तथा बाहुबलि की चैतन्यपूर्ण तथा अभिनव प्रतिमाएँ, जो एक दूसरे के बिल्कुल सम्मुख हैं, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा शिल्पकला की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

पाषाण मंदिर की सबसे उँची चोटी पर बनी बादामी की जैनगुफा अपने परिसर तथा आंतरिक बनावट और क्षेत्र के कारण एकांतवास के लिए जैसे एकदम पवित्र स्थान है। प्रभावी नींव के मध्यभाग में अत्यंत दक्षता से खुदवाए गए सिंह-मुख है। सामनेवाले कक्ष में एक ओर बाहुबलि तथा दूसरी ओर जैनपार्श्व की उतनी ही सुंदर तथा प्रभावी जीवंत प्रतिमाएँ हैं।

बादामी की समूह गुफाएँ एक शिलाखंडीय जैन मंदिरों का प्रतिनिधित्व करती हैं। मेगुडी की दक्षिणपूर्वी पहाड़ी का जैन मंदिर तथा दो मंजिला जैन मंदिर सबसे प्राचीन जैन मंदिर हैं। जैन गुफाओं का मध्यवर्ती दालान पूर्व दिशा में आयाताकार गर्भगृह में खुलता और उसके उत्तर तथा दक्षिण में शिल्प मंदिर है।

गुफा के मध्य दालान की दीवार पर दायें हाथ में मछली धारण किये हुए यक्ष का चित्र है। इस छोटे किंतु सघन गुफा ने मीन बसती यह नाम अर्जित किया और यही नाम बोलचाल की भाषा में प्रचलित भी हुआ।

छोटी जैन गुफाएँ

उल्लेखनीय मेगुडी के कारण ऐहोळे की पहाड़ी को मेगुडी पहाड़ी यह नाम प्राप्त हुआ। इसके अलावा मीन बस्ति गुफा के साथ एक अन्य साधारण दरवाजे की एक छोटी गुफा को भी पहचान प्राप्त हुई। एक विशाल शिलाखंड में उत्कीर्णित जैनगुफा में एक आयताकार गर्भगृह की चौखटों की पाखें गोलाकार फूलों की सांचे में ढली थी। गर्भगृह का रिक्त सिंहासन गहों तथा मखर से सजा हुआ था।

भले ही गर्भगृह में प्रतिष्ठापित मूल नायक की प्रतिमा लापता है तो भी सेवकों तथा त्रिछत्र की नक्काशी पीछे की दीवार पर नज़र आती है। पीठ की शैलिंगत समानता तथा मेगुडी के सेवकों की प्रतिमा के साथ इसकी समानता को विचाराधीन रखने के बाद प्रो. एस. राजशेखर का यह कहना है 'कि यह गुफा या तो छठी सदी के उत्तरार्ध में खुदवाई गई होगी या फिर सातवीं सदी के प्रारंभ में ही खुदवाई गई होगी'। (Early Chalukyas Art at Aihole : 1985, p.103)

मेगुडी के पास ऐहोळे की एक अन्य गुफा जो आकार में छोटी है वह शिल्परहित है। इसका संबंध भी जैनों से था। कदाचित् इसके आयाम तथा गहराई की लघुता के कारण शिल्पकारों तथा संरक्षकों, जिन्होंने इसकी खुदाई की होगी, ऐहोळे में इससे भी विशाल गुफा खुदवाने की खातिर इसका त्याग कर दिया होगा। जैन गुफाओं को अक्सर लयन, लयण, लेण तथा कल्लमने अर्थात् शिलाघर कहा जाता है।

संक्षिप्त रूपरेखा

विषय से संबंधित तत्कालीन शिल्पों पर विचार करने से पूर्व वीथिकाओं के ऐसे ही समान शिल्प जो ऐहोळे तथा बादामी के पाषाण मंदिरों में खुदवाए गए थे, की संक्षिप्त रूपरेखा यहाँ प्रस्तुत है, जिससे आगे के अध्ययन में सुविधा होगी। पट्टशाला की छोटी दीवारों पर वर्णनात्मक ढंग से छैनी से तराशे गए बाहुबलि तथा पार्श्व की सुंदर प्रतिमाएँ, जो अत्यंत नाटकीय एवं असाधारण हैं, जिनकी विस्तार से चर्चा की आवश्यकता है। दोनों नग्न प्रतिमाएँ अपने से एक तरह के दिव्य प्रभाकिरणों को परावर्तित करती हैं और उनको ऐसी मुद्रा में खुदवाया गया है जैसे कि वे हर प्रकार के मौसम को संयम के साथ सामना कर सकें।

जिन पार्श्व

1. पार्श्व के शीश पर बना पाँच फनोंवाला सुरम्य छत्र एक दुर्लभ चित्र है, कारण अन्य स्थानों पर सामान्यतः सात फनोंवाला छत्र होता है।
2. सर्पछत्र वाला मुकुट धारण करने वाली देवी, यक्षी पद्मावती पाँच फनों वाले छत्र के ऊपर वज्रमय छत्र को पकड़े खड़ी है। उसे जिन के दाहिने ओर खड़े दिखाया गया है, जो कि दुर्लभ है। सामान्यतः अन्य जगहों पर यक्षी को जिन की बायीं ओर दिखाया जाता है।
3. पार्श्व के चरणों में भक्तिभाव से बैठे राजपरिवार के एक गृहस्थ को दिखाया गया है। जिसे कमठ उपनाम शबर के नाम से जाना जाता है।
4. अर्हत पार्श्व कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े हैं।
5. छत्र के ऊपर विद्याधरों को हवा में झूलते दिखाया गया है, जो अलौकिक फूलों की वर्षा कर रहे हैं। जो अष्टमहा प्रातिहार्यों के ही द्योतक है, जो अर्हत पार्श्व की प्रतिमा का ठोस लक्षण है।
6. पार्श्व के सिर के बायीं ओर कमठ को एक बड़ा सा शिलाखंड उठाए ध्यानमग्न जिन की ओर फेंकते हुए दिखाया गया है।
7. इस शिल्प को कमठोपसर्ग कहा जाता है।
8. जहाँ तक विषयवस्तु की बात है, यह चालुक्य शिल्प का प्रारंभिक रूप है, हालाँकि इसे इससे भी पूर्व का प्रतिनिधित्व करनेवाला माना जाना चाहिए।

पारंपरिक पृष्ठभूमि

अर्हत पार्श्व तथा बाहुबलि के महत्व को अच्छी तरह से तभी समझा जा सकता है जब उसकी पारंपरिक पृष्ठभूमि पर भी एक नज़र डाल लें। 24 वें तीर्थकरों की परंपरा ई. पू. तीसरी सदी के आसपास स्थापित हुई। किंतु यह कथन अंतिम नहीं है। इसपर अभी भी चिंतन चल रहा है। इन तीर्थकरों में पार्श्व को सबसे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। 23वें तीर्थकर के रूप में पार्श्व की ऐतिहासिकता असंदिग्ध है। पार्श्व का जन्म वाराणसी में ईक्ष्वाकु वंश में हुआ था इसका उल्लेख करने वाला प्राचीन ग्रंथ है इसिभासिआइण (संस्कृत ऋषिभाषितानि, ई.पू. दूसरी सदी) और आर्यशामा लिखित प्रथमानुयोग तथा दंडिकानुयोग (ई.पू. प्रथम सदी)। अश्वसेन तथा वामा उसके माता पिता थे। तीस वर्ष की आयु में सिंहासन का त्याग कर पार्श्व ने लगभग सात दशकों तक की लंबी अवधि तक उपदेश दिया और बिहार के

सम्मोदगिरि उपनाम पार्श्वनाथ पहाड़ी पर आयु के 100 वे साल में मोक्ष प्राप्त किया।

ऐसा कहा जाता है कि दिगंबर साहित्य के अनुसार पार्श्व, उग्रवंश का था। उग्र उरग का ही समानार्थी शब्द है। उग्र क्षत्रीय थे। ऋषभ ने इनको प्रजा के रक्षणार्थ (रक्षक) नियुक्त किया था। निष्णांत गुणभद्र आचार्य (898) पार्श्व का उल्लेख उग्रवंशप्रणिः के रूप में करते थे। (उत्तरपुराण 73-166) इस मानव विज्ञान की पृष्ठभूमि के कारण पार्श्व को नाग का प्रतीक चिह्न प्राप्त हुआ। उसका अक्सर 'नागराजेन्द्र-विस्तीर्ण फणालंकृतमूर्तये' कहकर वर्णन किया जाता है।

इस पुस्तक के लेखक को अपने अनुसंधान के माध्यम से पार्श्व का कर्नाटक से संबंध दिखाने का मौका मिला। शिलालेख इसकी पुष्टि करते हैं कि सांतर राजवंश तथा उसके संस्थापक जिनका पूर्वी निवास पोंबुलच (आधुनिक होम्बुज क्षेत्र, शिमोगा जिला) में था, पार्श्वनाथ के इसी महाउग्र-वंशी से थे। (नागराज्यया हंप : 1997: pp. 27-29)

पार्श्व ने चतुर्विद्या संघ-का प्रचार किया जिसमें मुनि-आचार्य, साधु-साध्वियाँ, श्रावक-श्राविकाएँ तथा स्त्री-पुरुष सम्मिलित थे। महावीर के विचार या उपदेश भी इन चतुर्विद्या वर्गीकरण से भिन्न नहीं थे। विद्वानों के द्वारा हिसाब लगाने से पार्श्व ई.पू. 877-777 अथवा 817-717 तक जीवित रहा होगा ऐसा माना जाता है किंतु आधुनिक अनुसंधानों के द्वारा ऐसा माना जाता है कि पार्श्व ने अपना आध्यात्मिक व्यक्तित्व ई.पू. छठी सदी के प्रारंभ होने से पूर्व शुरू नहीं किया होगा।

पार्श्व का धरणेन्द्र के साथ संबंध का ऐतिहासिक मूल तथा तत्व मीमांसीय चर्चा करते समय यू.पी. शाह ने यह देखा कि, पास (पार्श्व) निश्चित अच्छे स्वभाव का था, उसने सतत पुरुषादानीय (पुरुषश्रेष्ठ) की उपाधि प्राप्त की थी जो आधुनिक लोकमान्य, देशबंधु, महात्मा आदि उपाधियों का ही पूर्ववर्ती रूप है। पुरुषादानिय का अनुवाद अक्सर प्रिय या सम्मानित व्यक्ति के रूप में किया जाता था। (अर्हत पार्श्व तथा धरणेन्द्र-(संपा)-एम. ए. ढाकि 1997-30).

पौराणिक पृष्ठभूमि

शत्रुता के कई ऐसे कारण होते हैं जो उनके पूर्वजन्म में बहुत गहरे जड़े जमाए होते हैं। कमठ, अपधर्मी संत, कठिन तपस्या कर रहा था, जंगल में सांपों को जलता देखकर, पार्श्व ने कमठ की ओर ईशारा करते हुए कहा था कि जिस तपस्या में हिंसा है वह निरर्थक होती है। विचलित कमठ ने पार्श्व से कहा कि वह यह दिखा

दे कि अगर हिंसा हुई है तो कहाँ हुई है। आग से एक लकड़ी निकालकर पार्श्व ने उसके दो टुकड़े किए और उसमें से दो अधजले सर्प उससे बाहर निकले, क्रुद्ध कमठ ने प्रतिरोध लेना चाहा और शंबर (मेघमाली) के रूप में जन्म लिया। सर्प ने धरणेन्द्र (नागों का राजा) के रूप में जन्म लिया और पद्मावती धरणेन्द्र की पत्नी बन गई।

वृक्ष के नीचे खड़े होकर पार्श्व कड़ी तपस्या कर रहा था। अपनी पिछली घृणा को याद कर शंबर (भूतानद, मेघमालि) ने उस पर कई प्रकार से हमला किया और आखिर ऐसी वर्षा की कि बाढ़ आ गई जिसमें पार्श्व नाक तक डूब गया। सहानुभूति से प्राकृतिक आपदा को समझकर धरणेन्द्र अपनी रानी के साथ उस जगह पर तत्काल पहुँच गया। धरणेन्द्र ने अपने फन को पार्श्व के सिर पर छत्र के रूप में धर दिया और अपने शरीर से पार्श्व के शरीर को जकड़कर उसे पानी से बाहर निकाला। शंबर के द्वारा दी गई वेदना की कसक से ध्यान बटाने के लिए नाग की रानी ने नृत्य किया। इस पुरी घटना के दौरान अर्थात् प्राकृतिक आपदा तथा उसकी रक्षा के दौरान, पार्श्व तटस्थ सा खड़ा था। अपने बुरे विचारों तथा कार्यों का त्याग कर कमठ अनुताप से पार्श्व के चरणों में झुक गया।

शिल्पगत पृष्ठभूमि

धरणेन्द्र तथा पद्मावती की परिकल्पना तथा पंथ के (नीचे से ऊपर तक) के उद्भव और विकास का परीक्षण करते हुए यु. पी. शाह (1987: ३३: 266-80) ने कमठ तथा पार्श्व की शत्रुता, जिसने पार्श्व को उसकी तपस्या भंग करने तथा उसको तंग करने के लिए उकसाया, की पृष्ठभूमि का अनुशीलन किया। इस प्रक्रिया में कमठ ने घनघोर अग्नि वर्षा, सिंह, भैसा, बिच्छू तथा बेताल को उस पर छोड़ा, भयंकर ध्वनियाँ कीं और तपोमग्न पार्श्व पर बड़े बड़े पत्थर फेंके। तथापि उपसर्ग के कारण पार्श्व पर इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ वह और स्थिर तथा निश्चल खड़ा रहा।

इस प्रकार कमठ का पार्श्व पर किया गया आक्रमण हमें बुद्ध की याद दिलाता है जिस पर भी मार द्वारा आक्रमण किया गया था। बुद्ध और जैन के ये आक्रमण इंद्र-वृत्र युद्ध की वैदिकवार्ता की भी याद दिलाते हैं। ऐसा लगता है जैसे यह सब अच्छे बुरे, सत्य-असत्य, सुर-असुर, प्रकाश-अंधकार की शक्तियों के बीच की अनादि लड़ाई की प्रतिध्वनियाँ ही होंगी। (यू.पी.शाह:3)

असाधारण शिल्प की ओर देखकर हम यह समझने लगते हैं कि उस घटना में प्रचुर मात्रा में उनकी नितांत हिस्सेदारी रही होगी, जो इतिहास और पुराण में अपने पैर फैलाए बैठ गई है और एक अखंड परंपरा से जोड़ती है जो ई.पू. 600 तक फैली हुई है। इस वर्णनात्मक शिल्प ने, शिल्पकारों की रचनात्मक दूरदृष्टि को प्रोत्साहित किया जिससे वे अपनी सबसे अच्छी कला का प्रदर्शन कर सके।

नागछत्र यह एक ऐसा संकेत चिह्न है जो अर्हत पार्श्व तथा उसके पूर्वजों को नागा जन-जाति से जोड़ता है। पुरातत्वीय साक्ष्य भी यह दर्शाते हैं कि लगभग दो ढाई हजार वर्षों तक बुद्ध तथा अन्य पंथों के समांतर जैन परंपरा में भी नागपूजा अस्तित्व में थी।

नागछत्र का प्रतीक सामान्य सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण में विकसित हुआ। उपसर्ग का संदर्भ, कमठ द्वारा पार्श्व पर की गई प्राकृतिक आपदा तथा धरणेंद्र का उसके साथ संबंध आदि एक धातु पर बनी पार्श्व की प्रतिमा पर मिलते हैं जिसे प्रिन्स वेल्स के म्युजियम (मुंबई) में पाया गया जो ई.पू. दूसरी-पहली सदी में (सिरका) को बनवाने के लिए दी थी और मथुरा में स्थित पार्श्व की प्रतिमा पहली, दूसरी तथा तीसरी सदी में बनवायी गयी थी। किंतु कर्नाटक के संदर्भ में प्राचीन गुफाएँ बादामी तथा ऐहोळे की ही हैं।

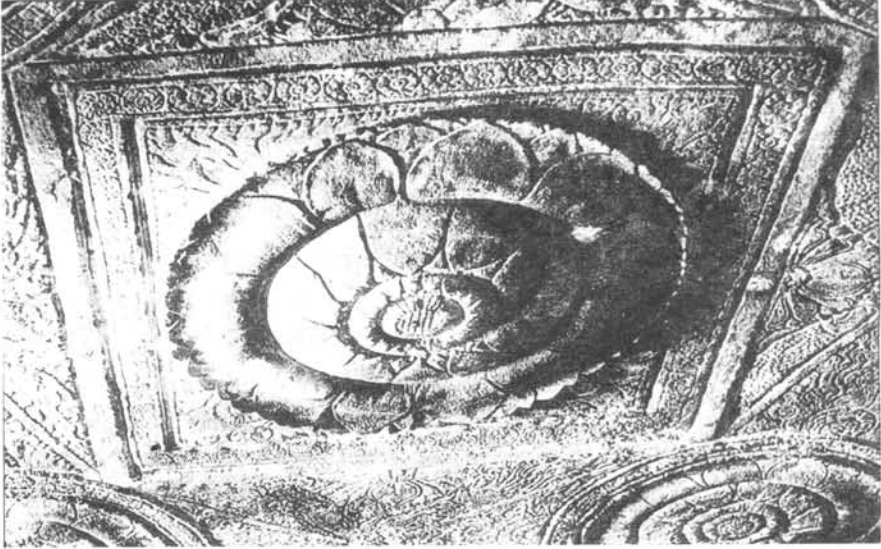
पार्श्व की उभरी हुई नक्काशी और उपसर्ग का भाग ऐहोळे तथा बादामी में भी मिलते हैं। इसके साथ पार्श्व तथा सुपार्श्व के शिल्पों में पायी जानेवाली समानता तथा उसकी ऐतिहासिक तथा पौराणिक संक्षिप्त प्रस्तावना देखना होगा।

पार्श्वनाथ तथा आठवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ की प्रतिमा सर्पछत्र के कारण अक्सर समान ही लगती है। पार्श्व तथा सुपार्श्व की प्रतिमाओं के मध्य की भिन्नता को समझने के लिए दो बातों का परीक्षण आवश्यक है।

1. जिन की प्रतिमा, जिस पर सर्पछत्र है और उसकी कुंडली उसके पीठ से होकर जिन के आसन के नीचे तक जाती है---वह प्रतिमा पार्श्व की है।
2. लांछन अथवा सुपार्श्वनाथ के ध्वज पर स्वस्तिक का चिह्न है जो कि सौभाग्य का बोधक है। जैन परंपरा में स्वस्तिक जीवनचक्र का द्योतक है।

चालुक्यों के शासनकाल में पार्श्व की प्रतिमाओं तथा शिल्पों ने लोकप्रियता अर्जित की थी। प्रारंभिक काल के कुछ मंदिर पार्श्व को समर्पित थे। ऐहोळे तथा बादामी की गुफाएँ, से व्वगुडि हल्लुरु तथा पौम्बुच बसती आदि ऐसे स्थान हैं जहाँ

पार्श्व को समर्पित मंदिर बनवाये गए थे। एक मात्र ऐहोळे तथा बादामी के शिल्प जैनकला के इतिहास में प्राचीनता तथा उच्च रचनात्मकता का स्थान पाते हैं।



Blooming lotus with rectangular frame bordered by exquisite floral design,
Ceiling, Jaina Cave, Aihole, 6th Century



Mithuna, an amorous couple, Ceiling, Aihole



Elaborate relief of Vardhamana Mahavira with Parikara, Cave IV, Badami

An unique sculpture of Tirthankara, seated in Ardha - Padmasana, Aihole



ऐहोळे? बादामी गुफाओं का प्रभाव

ऐहोळे-बादामी की गुफाओं की विषयवस्तु तथा नक्काशी ने पल्लव, पाण तथा तमिलनाडु के चोळों तथा राष्ट्रकूटों को प्रेरित किया। आठवीं सदी में अनेमलाई के समणर कोइल के बहुत बड़े शिलाखंड पर खुदवाई गई जिनपार्श्व की पाँच फनों वाली विशाल प्रतिमा आइहोले-बादामी के शिल्प की ही नकल है।

कळगुमलाइ तथा ऐहोळे बादामी की प्रतिमाओं की सादृश्यता पर विचार करना जरूरी है- बादामी की प्रतिमाएँ सुंदर तथा शक्तिशाली सर्प के फन तथा कुंडली में विराजमान हैं और कलगुमलाई के पाषाण में बनी प्रतिमा में धरणेन्द्र पार्श्व पीछे की ओर उसके ऊपर उठकर उसकी रक्षा करता हुआ दिखाई पड़ता है।

ऐहोळे बादामी में स्थित पार्श्व की प्रतिमा की तुलना जब कळगुमलाइ की प्रतिमा से करते हैं तो वह बहुत ही साधारण सी प्रतीत होती है। पाण्ड्य के पुत्र की कळगुमलाइ में स्थित प्रतिमा अपने तरह की अनोखी प्रतिमा है जो शिल्पकार की सौंदर्य-दृष्टि को ही प्रतिबिंबित करती है। संभवतः यह उत्कृष्ट प्रतिमा जिसमें धरणेन्द्र को मानवीय रूप में चित्रित किया गया, जिसमें उसका अपना फन जिनपार्श्व के सिर पर अत्यंत भव्य-दिव्यता से छत्र-स्वरूप है, जो एकदम बेजोड़ है।

विस्तृत रूप से उत्खननित तथा आभूषणों से युक्त खुदी हुई ये दोनों गुफाएँ, जिसे जीवित चट्टान से निर्माण किया गया, बहुत ही विस्मयकारी है। एलोरा की जैन गुफाएँ पाषाणों में बनी शिल्पकला की भव्यता से श्रेष्ठ है। इन दोनों जैन गुफाओं का अंदर वाला भाग एलोरा की जैन गुफाओं की तुरंत याद दिलाता है। जो क्रमानुसार पहले की है, किंतु सौंदर्य की दृष्टि से उच्चतम, विलासपूर्ण तथा विशाल है। जैन शिल्पकला अच्छी तरह से एलोरा की जैन गुफाओं में विकसित हुई, जहाँ राष्ट्रकूटों के युगीन शिल्पकारों ने चट्टानों को बलशाली व्यक्तियों की तरह खोदा और जौहरी की तरह उसे तराशा। अत्यंत कुशल शिल्पकारों के हाथों में पवित्र प्रार्थना मंदिरों का आकार पाने के लिए पर्वत भी भव्य-दिव्य स्मारकों में पिघल गए और शिल्पकला का एक बेजोड़ संग्रहालय निर्माण हुआ।

राष्ट्रकूट राजाओं द्वारा, एलोरा के निर्ग्रंथ की गुफाओं के दालानों में नौवीं सदी में बड़े बड़े पाषाणों को काटकर बनवाए गए शिल्प बादामी तथा ऐहोळे के निर्ग्रंथ की गुफाओं में स्थित ध्यानस्थ अर्हत पार्श्व तथा बाहुबलि की प्रतिमाओं के समतुल्य है। ये दक्षिण के प्रारंभिक संदर्भ है। एलोरा में बाहुबलि के कुल बारह शिल्प है और सभी के सभी ऐहोळे तथा बादामी से सूत्र लेकर बगल में ही खुदवाए गए हैं।

बाहुबलि-गोम्मट

गुडणापुर के पुरालेख के अनुसार कदंब राजा रविवर्म (485-519) ने हाकिनिपल्ली में कामजिनालय तथा काल्लीलि में पद्मावती मंदिर का निर्माण किया। उसने प्रार्थना मंदिरों के अलंकरण के लिए इडिऊरु दहरकवेंगुलि तथा मुकुंडी गाँवों तथा 51 निवर्तन की जमीन तथा चार निवर्तन की आवासी भूमि आदि से आय का प्रबंध किया। (गोपाल : CKI: 81-91: Intro. LVIII-LX) बी. आर, गोपाल कामजिनालय को बाहुबलि के मंदिर के रूप में मानते हैं और इस उक्ति की तुलना जिनेन्द्र-महिमा-कार्य से की है जो कि उसी राजा के हल्सी के तामपत्र में मिलती हैं। इस मंदिर को कामजिनालय भी कहा जाता था जो बेशक एक बसदि है, जिसमें बाहुबलि की प्रतिमा प्रतिष्ठापित है। ये कर्नाटक में बाहुबलि तथा पद्मावती की पूजा के प्रारंभिक संदर्भ है, जो कि वैशिष्ट्यपूर्ण है। (राजशेखर एस. कर्नाटक की शिल्पकला-1985-8-9) तथापि, हाल ही में गुडणापुर के उत्खनन में एक जिनालय में टूटी तथा खंडित प्रतिमाओं समेत कई जैन प्रतिमाएँ पायीं गयीं जो एक ही सोपान पर खड़ी थीं।

जैन अवशेषों के संचय में बाहुबलि के कोई चिह्न प्राप्त नहीं हुए। जबकि जैनों से संबंधित पद्मावती की एक प्राचीन मूर्ति उसी स्थान में पायी गयी। विद्यमान सामग्री यह सूचित करती है कि कामजिनालय बाहुबलि को समर्पित नहीं था। यह मंदिर पद्मावती को समर्पित था। जहाँ काम और रति की प्रतिमाएँ भी प्रतिष्ठापित थीं।

अभिलेखिय संपुष्टि सुनिश्चित करती है कि आदिकदंब जिनधर्म के निष्ठावान भक्त थे और जैन कला तथा संस्कृति के प्रति बहुत अधिक अनुकूल थे। तथापि बाहुबलि की प्रतिमाएँ अब तक विद्यमान नहीं हैं। बाहुबलि, ऋषभ उपनाम आदिनाथ का पुत्र तथा भरत का छोटा भाई 12 चक्रवर्तियों में से पहला चक्रवर्ती था और जैन परंपरा में 24 कामदेवों में सबसे प्रथम था। जैन अवधारणा के अनुसार, कामदेव मतलब अत्यंत सुंदर व्यक्ति। कणकलि जिला के प्राचीन स्थान पर उत्खननित अवशेषों के संचय में बाहुबलि की कोई प्रतिमा या शिल्प प्राप्त नहीं हुआ था। संक्षेप में गुप्तोत्तर युग में बाहुबलि की पूजा-प्रार्थना बहुत लोकप्रिय हो गई। अब तक विद्यमान बाहुबलि की प्राचीन प्रतिमा सैम्युअल इलेनबर्ग के संग्रह में प्राप्त एक धातु के शिल्प की है, जो छठी सदी की है, जिसके केश करिने से ऊपर की ओर मुड़े तथा कंधों पर गिरते हुए दिखाई देते हैं।

बादामी गुफा की बायीं ओर, कोने का तथा वीथिका का शिल्प एकदम सुंदर तथा अद्वितीय है। इस शिल्प की अर्थ-छटा देखते ही बनती है। बाहुबलि की नक्काशी में पौराणिक विषयवस्तु का प्रचुर मात्रा में प्रयोग मिलता है। विद्याधरों पर मंडराने वाली दिव्य युवतियों में परम-भक्तिभाव दृष्टिगोचर होता है। माधवी लताएँ उसके पैरों तथा भूजाओं पर चढ़ी हुई है। सर्प उसके चरणों की ओर बाबियों से रेंगते हुए आ रहे हैं और अपना फन फैला रहे हैं। बाहुबलि आकाशस्थ प्राणियों से घिरे हैं मानो वे प्राणी उनको अपनी श्रद्धांजली दे रहे हैं। बाहुबलि की अगल बगल में खड़ी दो अलंकृत युवतियाँ उनकी बहनें हैं जो क्रमशः ब्राह्मी और सुंदरी के नाम से जानी जाती हैं। इस पर कई विद्वानों ने विस्तृत विवरण दिया है। विशेषकर दो जैन परंपरा के संदर्भ में पुनर्विचार की आवश्यकता है। दिगंबर आचार्य जिनसेन (859) ने अपने आदिपुराण में यह कहा है कि उन युवतियों ने लताओं में जकड़े बाहुबलि को उसकी तपस्या हेतु प्राकृतिक आपदाओं से बचाने के लिए मुक्त किया। कलि काल के सर्वज्ञ विद्वान श्वेतांबरी आचार्य हेमचंद्र ने (1088-1172) बहुत जोर देकर कहा है कि ब्राह्मी और सुंदरी उस दृश्य में इसलिए दिखाई देती हैं क्योंकि वे अपने भाई की देह को लताओं की जकड़न से मुक्त करना चाहती थीं। पम्प ने (पंप ने) (941) वर्गीकृत रूप से कहा है कि खेचर वर्ग की परियाँ इस दृश्य में दिखाई देते हैं और उन्होंने ही उन लताओं को साफ किया था। (पम्प-आदिपुराण-14-141)

बाहुबलि के केश करीने से पीछे की ओर मुड़े हैं। उसके कंधों पर झूलते हुए घुँघराले बाल प्रथम तीर्थंकर बाहुबलि के पिता, ऋषभ की याद दिलाते हैं, शिल्पों में उसको कंधों पर झूलते घुँघराले बालों के साथ चित्रित किया है। बाहुबलि अपने दूसरे नाम गोम्मट से अधिक प्रसिद्ध थे।

बाहुबलि को चित्रित करने की तीन भिन्न भिन्न शैलियाँ हैं।

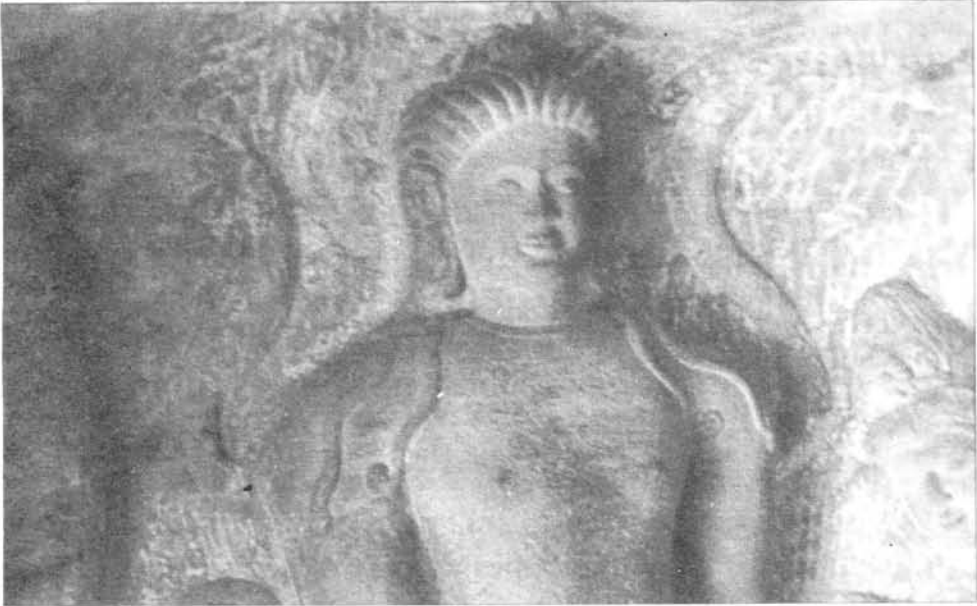
1. सिर से लेकर भूजाओं तक गिरते फैलते घुँघराले बाल
2. कंधों तक फैले घुँघराले बाल
3. घुँघराले बाल जो गोलवृत्त में उनके सिर पर मुकुट की तरह दीखते हैं।

बाहुबलि की नक्काशी के संरचनागत मूल्य महत्वपूर्ण है और इसके लिए अतिशयोक्ति की आवश्यकता नहीं है। जैनशिल्प की भव्य परंपरा का यह प्रारंभ

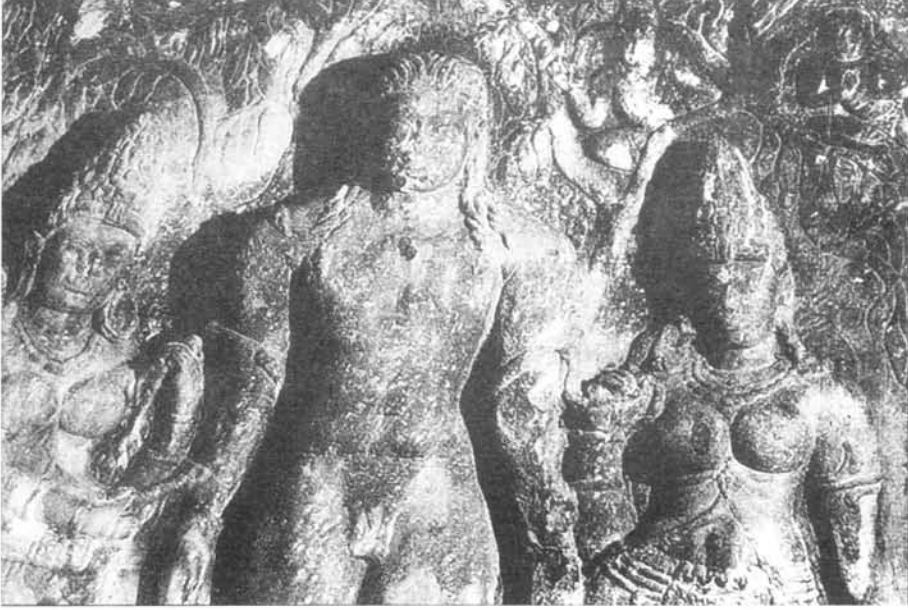
था जो दोड्डु बेट्टा (बडा पहाड - विंध्यगिरि) (श्रवण बेलगोल) की ऊँची चोटी की यागमेत्तर रेखा पर पहुँचा था। उसके बाद तो गोम्मट यह नाम बाहुबलि के लिए प्रचलित हुआ। संक्षेप में, जहाँ तक प्रतिमागत विवरण का सवाल है, श्रवणबेळगोळ की एकदम विशाल प्रतिमा 981 में गंग राजा के सेनापति तथा मंत्री चामुंडराय द्वारा संस्कारित की गई थी। जो कि ऐहोळे बादामी से भिन्न थी। बल्कि इसी विषय पर बने शिल्पों के लिए एक नया साँचा था। तथापि पुरातत्विय साक्ष्य यह दर्शाते हैं कि चालुक्यों की जैन गुफाओं में पहली बार बाहुबलि ने दृश्यात्मक प्रतिनिधित्व पाया था।

दक्षिण में बाहुबलि-कला का वैशिष्ट्यपूर्ण प्रवाह प्रारंभ करने का यश चालुक्य शिल्पकारों को जाता है। उन्होंने बाहुबलि की कथाओं की वृद्धि शिल्पों में की और बाद के कलाकारों तथा लेखकों ने फिर अपनी कल्पना भी उसमें डाल दी और अपनी प्रतिमा को चार चाँद लगा दिये।

बाहुबलि को संयम की मुद्रा में चित्रित किया गया है जिसे दार्शनिक शब्दावली में कायोत्सर्ग मुद्रा कहा गया है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह परंपरा दोड्डु बेट्टा श्रवण बेलगोल (981) में अपनी चोटी पर पहुँची।



The earliest extant relief of Bahubali, Cave IV, Badami



Bahubali engrossed in deep meditation, flanked by Apsares (sisters?), Jaina cave, Aihole, 6th Century.

बाहुबलि संप्रदाय कर्नाटक में संभवतः आदिकदंबों के युग में प्रवेश कर पाया था, लेकिन इसी युग में वह अधिक लोकप्रिय हुआ।

कुक्कुटेश्वर

आश्चर्य की बात है कि गोमटेश्वर के अलावा बाहुबलि का एक और नाम है कुक्कुटेश्वर। विंध्यगिरि पर्वत की चोटी पर बनी 58.8 फूट बाहुबलि की उन्नत प्रतिमा को, दक्षिण कुक्कुटेश्वर तथा उन्नत कुक्कुटेश्वर भी कहा जाता है। जैन पुराणकथाओं में कुक्कुट इस शब्द का एक विशिष्ट संदर्भ तथा अर्थ है। कुक्कुट का अर्थ है मुर्गा तदनुसार कुक्कुट सर्प का अर्थ है 'नागफनवाला जंगली मुर्गा' यह मुर्गा और सर्प का दुर्लभ मिश्रण है। नृशास्त्रविज्ञान के अनुसार इस प्रतीक का अर्थ यह है कि नागछत्र तथा कुक्कुटसर्प नागपूजक जाति के विशेष प्रतीक है। दिलचस्प बात यह है कि जैनों की ध्यान धारणा के एक आसन का नाम भी कुक्कुटासन है। मलधारिदेव (1118) एक सम्मानित जैन धर्मगुरु का ऐसा वैशिष्ट्य था कि उसका उल्लेख कुक्कुटासन मलधारिदेव के नाम से किया जाता था।



फर्ग्युसन तथा बर्गेस दोनों, बाहुबलि के गोम्मट तथा गोतमस्वामी, गणधर जो कि मुनि थे, के उपनाम से भ्रम में पड गए थे और फिर तो और भी उलझ गए जब उन्होंने बाहुबलि तथा पार्श्व दोनों के शरीरों को लताओं से जकड़े देखा। गोतमस्वामी पार्श्वनाथ के साथ अक्सर गुफा शिल्पों में नग्न तथा लताओं से जकड़े दृष्टिगोचर होते हैं। (James Fergusson and James Burgess: (1880) 1988:488) यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि बाहुबलि (गोम्मट) का प्रथम तीर्थंकर के गणधर गोतमस्वामी या तीर्थंकर पार्श्वनाथ से कोई लेना देना नहीं है। किंतु फर्ग्युसन तथा बर्गेस के संबंध में यह कहना जरूरी है कि उन्होंने ही पहली बार 1880 में पार्श्व तथा बाहुबलि के शिल्पों को एक समान पाया। (नागराजय्या हंपा: जिन पार्श्व मंदिर 1999 : pp. 51-52)

दिलचस्प बात यह है कि बाहुबलि की स्वतंत्र और अप्रतिम प्रतिमाएँ इसी युग में प्रकाश में आयीं। प्रो. सैम्युएल इलेनबर्ग के संग्रह का चौथी तथा छठी सदी के मध्य का धातु शिल्प बादामी चालुक्यों की शैली का है। विश्वपद्म पर ध्यान धारणा में लीन, कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी युवा बाहुबलि की प्रतिमा के मुख पर एक विशेष प्रकार का स्मित और आनंद झलकता हुआ दिखाई पड़ता है। इस प्राचीन प्रतिमा के महत्व की चर्चा करते समय विद्वान एवं कला इतिहासकार यू.पी. शाह कहते हैं कि, 'बाहुबलि के शरीर पर न तो कोई वस्त्र है और न ही कोई आभूषण। केवल लताओं से उसका शरीर, पैर तथा भुजाएँ आदि आवृत हो गये हैं। उसके घुंघराले बाल उसकी पीठ तथा उन्नत कंधों पर फैले हैं। उसके केश पीछे की ओर मुड़े हैं। इस प्रकार के केशभूषावाली बाहुबलि की प्रतिमाएँ संभवतः श्रवणबेळगोळ में प्राप्त हुई थीं जो आज मुंबई के प्रिन्स ऑफ वेल्स के संग्रहालय में मौजूद है। इस प्रकार के केशभूषावाली बाहुबलि की धातु-प्रतिमा का ऐहोळे तथा बादामी में पायी जाने वाली प्रतिमाओं से तुलना की जा सकती है। जबकि इनकी संपूर्ण शरीर-संरचना का स्वरूप ऐहोळे-बादामी की गुफाओं में पायी जानेवाली प्रतिमाओं से साम्य रखती है। इलिनबर्ग के संग्रह में प्राप्त बाहुबलि की प्रतिमा, जहाँ तक मैं समझता हूँ भारत में पायी जाने वाली सबसे प्राचीन प्रतिमा है।' (यू.पी. शाह 1986: pp.397-98)

उपर्युक्त धातु-प्रतिमा की एक अन्य विशेषता यह है कि इसमें न तो सर्प है, ना बांबी और ना ही उसकी बगल

में दो युवतियाँ हैं। विद्यमान किसी भी बाहुबलि के शिल्प में इतने तरतीब से पीठ पर फैले केश दिखाई नहीं पड़ते। प्रो. के. ढाके इस दुर्लभ धातु-प्रतिमा पर विचार करते हुए यह कहते हैं कि, 'यह प्रतिमा ज्यादातर 'कुशान' युग की तथा चौथी सदी (ए.डी) के बाद की हो सकती है'। मैं भी ढाके जी से सहमत हूँ। संक्षेप में, बाहुबलि संप्रदाय बादामी साम्राज्य में बहुत प्रचलित तथा लोकप्रिय था। यदि ऐहोळे-बादामी की जैन गुफाओं के शिल्प बाहुबलि की इस प्रकार स्वतंत्र धातु प्रतिमाओं से प्रेरित रही होगी तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

कोष्टराय

कोष्टराय अगस्त्य तीर्थ के दक्षिण-पूर्व तट के पाषाण में खोदी विशाल प्रतिमा 'कोष्टराय' के नाम से जानी जाती है। इस प्रतिमा के प्रति स्थानीय लोगों में कुछ धारणाएँ प्रचलित हैं। उनके अनुसार, कुष्ठ रोग से पीड़ित राजा ने पास ही के अगस्त्य तीर्थ में डुबकी लगाई और वह रोगमुक्त हो गया। इस प्रकार की दंतकथाओं, धारणाओं को विशेष महत्व न देते हुए, विद्वानों ने इस शिल्प का जिन, बुद्ध तथा कीर्तिवर्म से संबंध जोड़ा और अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए...

1. 'बुद्ध की मुद्रा में आसनस्थ होने पर भी यह प्रतिमा न तो बुद्ध और न ही जिन का प्रतिनिधित्व करती है।'
2. ए. सुंदर का कथन है, 'यह शिल्प राजा कीर्तिवर्म प्रथम का हो ऐसा लगता है। संभवतः मंगलेश ने इसको बनवाया था, जो अपने भाई का बहुत आदर करता था।'
3. ए.एम. अण्णिंगेरि को ऐसा लगता है कि कोष्टराय निश्चित ही बादामी के किले का खजांची रहा होगा और जो बाद में यति बन गया होगा। (1958, 33)
4. करोल रेडिकलिप्फ का कथन है कि, 'मेरे लिए इस प्रतिमा की तीथि तथा पहचान रहस्यपूर्ण लगती है।'
5. बी.वी. शे 'ी लिखते हैं, 'मुख्य प्रतिमा का शीर्ष पद्मासन में बंधे पैर, ध्यानमुद्रा में बाया हाथ, मकर से सुशोभित सिंहासन, तथा दो चामरधारी आदि सभी ऐहोळे की जैनगुफा (छठी सदी) की सारणियों में खुदवाये तीर्थकरों से मिलती जुलती है। यह इस बात की ओर संकेत करता है कि चर्चित शिल्प निःशंकित उस शिल्पकार से खुदवाया गया है जो जैन

प्रतिमाओं की शैली से अवगत रहा होगा। अतः हाथ तथा पैरों की मुद्रा, पार्श्व का बोधिवृक्ष, पीछे सिंहासन पर बना मृग का प्रतीक यह सब इस बात को सिद्ध करता है कि यह बुद्ध की ही प्रतिमा है। तथापि पीछे सिंहासन पर खुदवाए गए आभूषण तथा शंखचक्र स्पष्टतः से उनका विष्णु के साथ संबंध जाहिर करते हैं। स्थानीय साक्ष्यों के आधार पर यह कहना अधिक उचित होगा कि प्रस्तुत प्रतिमा पुराणों के 'मायामोह' अथवा 'बुद्धावतार विष्णु' की होगी। शैली के आधार पर प्रस्तुत शिल्प का समय सातवीं सदी अथवा आठवीं सदी का प्रथम दशक रहा होगा। (शेट्टी बी.वी. 1995:90) मैं भी शेट्टी जी से सहमत हूँ।

ऐहोळे के संग्रहालय का एक और दुर्लभ शिल्प, एक पवित्र प्रतिमा किंतु चामधारियों से रहित, ग्रेनाईट में तराशी गई, देसाई जी के घर के पास है। यह प्रतिमा ध्यानस्थ मुद्रा में पीठ पर आसनस्थ है। जिसके पीछे आयताकार का तकिया दिखता है। यह शिल्प आठवीं सदी का है। विद्वानों ने भी इसके संबंध में अपने विभिन्न मत दिए हैं।

और एक उल्लेखनीय शिल्प है भट्टारक का, जो पद्मासन की मुद्रा में है और जिसने पतला सा वस्त्र धारण किया है और उसके केश उसकी छाती तथा कंधों पर गिर रहे हैं। यह शिल्प पीछे के प्रभावलय के कारण किसी देवता के शिल्प सा लगता है। (शिवराम मुर्ति 94)

बुद्ध का धारण किया गया वस्त्र बहुत ही सफाई से तराशा गया है। यह शिल्प पूर्वी चालुक्यों के काल का ही है कारण इसमें पूर्वी चालुक्य युग के शिल्प कला की बहुत सारी समानताएँ पायी जाती हैं। (राजशेखर 186) इस पुस्तक के लेखक भी राजशेखर जी से सहमत हैं।

अर्हत पार्श्व तथा बाहुबलि की प्राचीन शिल्पाकृति उल्लेखनीय है कारण इसमें दिव्य किन्नर आसमान से अपने हाथ में फूलों की मालाएँ लेकर पवित्र जिन को समर्पण करने तैरते आ रहे हैं। क्योंकि वे जिन को अपने से भी अधिक श्रेष्ठ तथा आदरयुक्त मानते थे। यह इस और संकेत करता है कि अर्हत ने साधना तथा ध्यान धारणा तथा अध्यात्म में अधिक ऊँचाई प्राप्त की थी।

पार्श्व का प्रोत्साहक धरणेंद्र से संबंध की साक्ष्य हमें प्रथम सदी में मिलती है, किंतु इसका उल्लेख लगभग दूसरी सदी के आगम साहित्य में आता है। ऐहोळे तथा बादामी की गुफाओं में उपसर्ग (आपदा) का प्रतिनिधिकरण अप्रतिम है। क्योंकि

अब तक के प्राप्त शिल्पों में यह सबसे प्राचीन शिल्प है। कभी कभी धरणेन्द्र के साथ पायी जाने वाली जिन की प्रतिमाएँ, ऐहोळे-बादामी के पाषाणों में तराशे गए शिल्पों के बहुत पहले की हैं। किंतु वे उपसर्ग (आपदा) के विवरण से रहित हैं। उपसर्ग के विवरण से रहित शिल्पकृतियाँ प्रारंभिक तथा असाधारण हैं। हालाँकि शिल्पाकृतियों से मौखिक तथा लिखित परंपरा का पूर्वानुमान हो जाता है। अब तक ऐसी सामग्री हमारे पास नहीं आयी है।

एक अन्य प्रवृत्ति जिसमें कमठोपसर्ग के मूलभाव का प्रस्तुतीकरण और भी महत्वपूर्ण है और वह यह है कि यह प्रस्तुतिकरण विद्यमान जिनसेन पार्श्वभ्युदय (780) तथा गुणभद्र के उत्तरपुराण (898) के साहित्यिक संदर्भ तथा एलोरा के जिनगुफाओं तथा तमिलनाडु के इसी के समान शिल्पों से भी बहुत प्राचीन है। चालुक्य शिल्पकार बहुत ही कुशल, मौलिक तथा कल्पनाशील थे, जिन्होंने उपसर्ग के मूलभाव के प्रस्तुतीकरण का प्रतिनिधित्व किया जो समय के रहते आनेवाले शिल्पकारों के लिए जैसे एक उदाहरण ही बन गया जो इस प्रकार की विषयवस्तु पर काम कर रहे हैं।

अनुपम वर्णनात्मक फलक

ऐहोळे की गुफाओं के अंतःमंडपों की दीवारें तथा छतें गुफा निर्माताओं की सृजनात्मक दृष्टि शिल्पकारों के अधीन थी। मेणबसदि के दाहिने ओर के कक्ष के 7.39 मीटर (25 फीट) लंबी तथा 2.18 मीटर (7 फीट) ऊंची दीवार पर बनवाया गया वर्णनात्मक फलक अपनी तरह का एक उत्कृष्ट तथा अपनी अवधारणा का एक मात्र फलक था। नीचे वाली शिल्पाकृति जिसमें लगभग 25 प्रतिमाएँ हैं, जिसमें पार्श्व के जीवन की प्रमुख घटनाएँ चित्रित हैं, जो पार्श्व के जीवन का मुकम्मल चित्र ही उपस्थित करता है। यह शिल्प बहुत ही धुंधला एवं टूटा होने पर भी अभी भी उसको देखा समझा जा सकता है। पार्श्व से एकदम विरुद्ध मानवी जीवन के हर आनंद का उपभोग लेने वाली मन की अवस्था और फिर जो भी उसको प्रिय था उसको अस्वीकार कर, नगनावस्था में ध्यान धारणा में लीन हो जाने वाला यह शिल्प निश्चित ही विशेष अध्ययन की माँग करता है।

पार्श्व सिंहासन पर पर्यकासन (समभंग पद्मासन) में बैठकर आध्यात्मिक भव्यता को प्रसारित कर रहे हैं और उनकी बगल में दो चामरधारी हैं। उनके सिर के पीछे का प्रभामंडल तथा सिर पर का छत्र-त्रय अलौकिक प्रातिहार्य का सांकेतिक है।

पाँचफनों वाला धरणेन्द्र तथा एक फन वाली पद्मावती (नागराज तथा नागरानी) पार्श्व के दायें-बायें प्रार्थना की मुद्रा में बैठे हैं। अन्य अलंकृत देवतागण अपने मुकुटयुक्त शीश तथा प्रभामंडल के पीछे अपनी-अपनी पत्नियों के साथ जिन की अगल बगल में प्रार्थना की मुद्रा में खड़े हैं। यही चित्र दक्षिण दीवार पर भी दिखता है जहाँ खेचर प्रमुख अपनी रानियों के साथ उपर्युक्त वर्णित चित्र के समान ही खड़े हैं। यह फलक चित्र फिर उत्तर दीवार पर वैसे ही चलता है, जहाँ इंद्र तथा इंद्राणी अपने ऐरावत पर सवार अपने दलबल के साथ जिन की भव्यता में भाग लेने चले आ रहे हैं। इंद्र इंद्राणी के शिल्पों में यह शिल्प सबसे प्राचीन है। (नाराजय्या हंप : Indra in Jain Iconography: 2002).

तथापि, इसका अंतिम भाग लंबी लकीरों में खत्म हो जाता है जो तराशा नहीं गया है। संक्षेप में, यह अप्रतिम फलक प्रत्येक जिन के जीवन में पंच कल्याण के सारतत्व को उत्कृष्टता से किंतु स्पष्टता से प्रकट करता है। विशेषकर इसका जो सार भाग है वह यह कि जिन की पूजा करते हुए नागराज, सूर, खेचर तथा उनका दल-बल पारंपरिक वर्णन के अनुसार एक पंक्ति में खड़े हैं, जो यह बताते हैं कि जिन की पूजा हर वर्ग-जाति के लोगों ने की है- 'नागामर-खचर-पति-पूजित'।

हालाँकि यह शिल्पाकृति तत्कालीन शिल्पकारों द्वारा प्रशंसात्मक रूप से पूर्वनियोजित थी किंतु ताज्जुब है कि

तत्कालीन शिल्पकारों द्वारा इसे ऐसे ही छोड़ दिया गया है।यह शिल्पाकृति कर्नाटक के जिन स्मारकों में अद्वितीय है....लेकिन यह प्रदर्शन से अधिक उसकी योजना के कारण विशेष रोचक है। इन अपूर्व प्रतिमाओं का पूर्ण रूप से ठीक ठीक मूल्यांकन नहीं किया गया। परंतु जितने भी थोड़े मूल्यांकन हुए हैं वे यही कहते हैं कि इसका नियोजन बढ़िया रहा है। मानवीय आकृति की वह बनावट, आभूषणों का उचित प्रयोग, स्त्री-पुरुषों की शिल्पाकृतियों की सुरम्यता शिल्पकारों की कुशलता तथा प्रतिभा का ही प्रमाण देती हैं। छेनि के चिह्न अभी भी गहरे उभरे दिखते हैं। लंबी लकीरे आज भी बरकरार हैं। मुख और शरीर का कुछ भाग अभी निर्माणाधीन हैं। इस फलक का अपना ही एक आकर्षण है। इसको देखकर पूरी संतुष्टि नहीं होती पर यह हमारी उत्सुकता को अवश्य बढ़ाता है। इस प्रकार का कोई भी फलक कर्नाटक के किसी भी कलाकार द्वारा मंदिर की पृष्ठभूमि पर बनवाने की योजना नहीं की होगी।

ऐहोळे- मेषबसदी मंदिर

सामने वाली बाड़ी के ऊपर, फूलों तथा पल्लवों से अलंकृत मंदिर की बगल में छोटे छोटे कक्षों से युक्त एक हॉल है, जिसके बायें वाला कक्ष अभी भी अपूर्ण है। गर्भगृह में स्थित विशाल सिंहासन बहुत ही आकर्षक है। सिंहासन पर आसनस्थ जिन को कईयों ने महावीर ही माना है। किंतु इसकी सही पहचान करना कठिन है। कारण स्तम्भाधार पर ध्वज नहीं है जो कि अपना प्रतीक चिह्न रखने का आम स्थान होता है। जिनके सिर के ऊपर का छत्र-त्रय तथा सिर के पीछे का प्रभामंडल उल्लेखनीय है।

महावीर की शिल्पाकृति, जिसमें महावीर छत्र-त्रय के नीचे पद्मासन की मुद्रा में बैठे हैं, एक बहुत बड़े गद्दे के

सामने है, और यह गद्दा समस्तरीय अर्गले के उपकरण के विरुद्ध रखा गया है और यह अर्गला दो खंभों के सहारे खड़ा है और खंभों के छोर पर मकर है जो कि मात्र एक ही है। ऐहोळे के इस शिल्प की एक अन्य उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें दो पुरुष आकृतियाँ हाथ जोड़कर प्रशंसा की मुद्रा में चामरधारियों के पीछे खड़ी है, और जिन्होंने किरिट-मुकुट जैसे खास आभुषण भी पहने हैं।

कर्नाटक में विद्यमान महावीर का यह शिल्प बहुत ही पुराना (लगभग छठी सदी का अंतिम दशक) होने के कारण इसकी अन्य विशेषताएँ संक्षेप में इस प्रकार हैं....

- करबद्ध तथा पाँचफनों वाला छत्र धारण करनेवाली एक महिला का अवक्ष शिल्प भी सिंहासन के दाहिने ओर है, जो संभवतः नाग सेविकाओं की प्रमुख है।
- इसके समान ही एक अन्य शिल्पाकृति भी बायीं ओर दिखाई पड़ती है पर उसके ऊपर मात्र एक फनवाला छत्र है, संभवतः यह नागराज की रानी है।
- आसनस्थ जिन के पीछे का प्रभावलय साधारण सा है।
- जैन प्रथा के अनुसार प्रभावलय के ऊपर छत्र-त्रय दिखाई पड़ता है।
- शासनदेवता का अभाव तुरंत ध्यान में आ जाता है।
- चैत्यवृक्ष भी दिखाया नहीं गया है।

बादामी गुफा मंदिर

बादामी का गुफा मंदिर जिसे अत्यंत बारिकी से तराशा गया है, वह क्रम में

चौथे नंबर का है। यह गुफा मंदिर एक लंबे पर्वत शिला में तराशा गया है जो कि राजधानी की किलेबंदी था। पार्श्व तथा बाहुबलि के शिल्प जैसे भव्यता की सीमा पर आकर ठहर से गए हैं। इन गुफाओं के प्रवेश भाग में चार बड़े बड़े स्तंभ तथा दो आयताकार खंभे हैं जो वीथिका को आधार दिए हुए खड़े हैं। इसकी छत अपने युग की कुछ रोचक कथाओं से सुसज्जित है, जैसे उड़ते विद्याधर, खिले हुए कमल तथा मछली, मकर, तिमिंगल तथा नाग-कुंडल की आकृतियाँ आदि अंदर का बरामदा भी चारों खंभों में विभाजित है, जो विशाल तथा आयताकार में है जिसके चारों ओर आला बनवाए गए हैं जिसमें जिन की मूर्तियाँ स्थापित की गई हैं। उसका ऊपरी हिस्सा तरंग-बोधिका बल्बनुमा आयताकार में है। खंभों का कुछ भाग उबड़ खाबड़ है और प्रमुख स्तंभ के पास के शहतीर मकरों के शीर्ष से अलंकृत है। यह सभी बहुत ही रोचक तथा प्रभावकारी है।

बादामी गुफा मंदिर के महावीर का एक अन्य तराशा हुआ शिल्प ऐहोळे गुफा मंदिर के समान ही है, पर कुछ भिन्नता लिए हुए हैं। जिन एक बड़े से गद्देनुमा तकिए पर विश्राम कर रहे हैं और जिसके पीछे दो स्तंभों का संतुलन संभालने वाला एक बड़ा-सा शहतीर है जिसके छोरों पर मकर शीर्ष हैं। यह शिल्पों की आम शैली है जो और भी जगहों पर देखी जा सकती है। अपने पीछे के पैरों पर खड़े सिंह आयताकार खंभों से लगकर है, जबकि शहतीर के छोरों पर मकर हैं। छत्र-त्रय के नीचे अर्धकमल में ध्यानमुद्रा में बैठे महावीर के सिर के पीछे प्रभावलि और चैत्यवृक्ष भी है। उड़ते हुए माला-धारक मंदिर की बगल में हैं। तीन तीन सिंहों में से दो आखिर में हैं जो यह सूचित करते हैं कि वह स्तम्भाधार सिंहासन है और मध्य का एक सिंह 24 वें तीर्थंकर महावीर का लांछन है। दो चामरधारी पीछे की ओर खड़े हैं। महावीर का शिल्प चालुक्य युग का एक उदाहरण है जो कि छठी सदी के अंतिम दशक का है।

गर्भगृह की सीढियों की बगल में हस्ति-हस्त तथा प्रवेश द्वार पर अश्वपद है जो कि उल्लेखनीय है। बादामी की गुफा में तराशी हुई परवर्ती युग की महावीर की अन्य दो शिल्पाकृतियाँ जिन को कायोत्सर्ग मुद्रा में दर्शाती हैं। उनमें से एक चतुर्विंशति-प ; कर्नाटक का अपनी तरह का एक प्राचीन शिल्प है। (प्रारंभिक दसवीं सदी) जैन-गुफा मंदिर शांति और आत्मविश्वास के प्रभा को उत्सर्जित करते हैं, 'जैनों के लिए बुराई खत्म करना यानि यह नहीं है कि हाथों में हथियार सौंप देना बल्कि दृढ़ संयमी तथा निर्भय होना है'। गुफा मंदिर निर्माता, यात्रियों को यही

संदेश देना चाहते थे कि मन की शक्ति तन की शक्ति से अधिक ताकतवर होती है। जिसके बारे में जिन ने अपने उपदेशों में पहले ही बताया था। (Kurt Titze 1998:33-35)

बादामी से कुछ दूरी पर बनी अन्य तीन गुफाएँ जो बुद्ध, शिव तथा विष्णु को समर्पित हैं, हजारों साल पहले के परिकल्पना धर्म-निरपेक्षता की भव्य साक्ष्य है। वे धार्मिक समरसता, सह-अस्तित्व तथा धार्मिक-सामाजिक सहिष्णुता का अमूल्य संदेश ही देते हैं। नंदी तथा गोपिनाथगुट्ट गुफा (कोलार जिला) प्राचीन वैभवपूर्ण जैन तीर्थ के रूप में प्रचलित हुई। 750 का पुरालेख यह कहता है कि द्वापर युग में दशरथ के पुत्र रामस्वामी ने अर्हत के जैन चैत्य भवन की स्थापना की। उसके बाद पांडवों की माता कुंतिदेवी ने मंदिर के गर्भगृह का पुनः निर्माण किया। नंदी पहाड़ जैसे पृथ्वी का आभूषण ही था और मोक्ष प्राप्ति करने का मार्ग था, जो धरणेन्द्र की मणि की तरह चमक रहा था। यह पहाड़, जो सभी पर्वतों में उत्कृष्ट था, जैनेन्द्र के कारण पावन हुआ, जिसमें प्राकृतिक गुफाएँ थी, जहाँ ऋषिगण योग साधना किया करते थे।

कळवप्पु, कोगाळि, कोळ्ळेगाल, कोप्पळ, केल्लिपुसूर, अरबळ्ळि, केल्लंगेरे तथा बनवासी के साथ साथ यह नंदी पहाड़

चालुक्य साम्राज्य का एक और जैन तीर्थ है। अन्य स्थानों की तरह, मध्यकाल के बाद, नंदी पहाड़ भी जैनेत्तर पंथियों द्वारा हड़प लिया गया। (शर्मा आय. के. कर्नाटक के गंगों के मंदिर : 1992:175-78). पल्लवों तथा चोळों (तमिलनाडु) ने भी इय्यक्कि पदारि (अर्थात् यक्षी भारी) की पूजा को प्रोत्साहन दिया। (Sarma I.K.: Temples of the Ganges of Karnataka)

निशिधि पुरालेख-शासन

कर्नाटक में विद्यमान प्राचीन जैन पुरालेख यानि निशिधि पुरालेख और ये सब चालुक्य युग के थे। उपलब्ध समीक्षात्मक रिकार्डों के अनुसार, क्रमानुसार सोरले (मैसूर जिला) आरबल्लि (बेल्लारी जिला) तथा कळवप्पु के निशिधि पुरालेख बहुत प्राचीन हैं, जिसकी तिथि ईसा. की छठी तथा सातवीं सदी की है।

जैन परंपरा में अन्य शरीर के अवयवों में पैरों (चरण) को ही पूजा के लिए चुना गया है। ये पदचिह्न जिन के

पदचिह्न माने जाने के कारण भक्त गणों का यह विश्वास है कि इन पदचिह्नों की पूजा-अर्चना तथा उसके गुण गान से ही मोक्ष की प्राप्ति होगी। पहाड़ों के राजा सम्मेदगिरी (झारखंड), कळवप्पु तथा अन्य जगहों पर जैन धर्मगुरु आज तक इन चरणों की पूजा करते आ रहे हैं। हालाँकि इस युग के पुरालेख बड़ी संख्या में पाए गए हैं, किंतु इन पवित्र चरणों के शिल्प अब तक क्रमसंख्या में प्रकाश में आए हैं।

पारसनाथ पहाड़ को, सम्मेदगिरी भी कहा जाता था, जो कि एक सिद्ध क्षेत्र है जिसका उपनाम है निर्वाणभूमि, जहाँ पार्श्व समेत बीस तीर्थंकरों ने जन्म मृत्यु के चक्र से मोक्ष प्राप्त किया था। जिसे निशिहिया (सं.निशिधिका) कहा गया है। इसी प्रकार से, बिहार के पास के चम्पपुरा शहर के पास का मंदिर बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य को समर्पित किया गया है। जिसको 'संघदासगणि वाचक' के वसुदेव हिंदी में निशितायतण कहा गया है। (सी.पांचवीं सदी) सम्मेदगिरी चंपापुरी तथा पावापुरी ये पावन स्थल हैं और जैन लोग निशिधि की तीर्थ यात्रा तथा वहाँ जाकर प्रार्थना करने के लिए बहुत महत्व देते हैं।

विद्यमान निशिधि इस युग के जैनों का स्मारक पाषाण, विद्वानों का ध्यान खींचता है। व्यावहारिक दृष्टि से इस युग के, किसुवोळाल तथा पुलिगेरे के निशिधि नहीं ही है, जबकि ऐहोळे तथा बादामी के दो हैं। किंतु श्रवणबेळगोळ में दो दर्जन निशिधि पाए गए हैं। कई स्मरणिय पुरालेख सातवीं तथा आठवीं सदी में चंद्रगिरी के पर्वत पर लिखे गए हैं। दिलचस्प बात यह है कि पुरालेख का संबंध किसी भी राजा या राज्य से नहीं है और ना ही उस में किसी राजा के शासनकाल का ही उल्लेख है। दूसरी ओर वे मुनि तथा साध्वियों के संघ के बारे में कहते हैं, उदाहरणस्वरूप, सातवीं सदी के कुछ निशिधि उन स्वाध्वियों के बारे में यह कहता है कि वे चालुक्यों के काल के नविलूरू संघ की शिष्याएँ थीं। रोचक बात यह है कि सातवीं सदी की अरबळिळ के निशिधि में पुलकेशि के नाम का उल्लेख है।

सल्लेखन आत्मघात नहीं है। जैन परंपरा में लंबे उपवास करके मृत्यु का स्वागत करना है। चंद्रगिरी तथा कुछ अन्य जगह के सातवीं सदी के लगभग तीस निशिधि पुरालेख पैरों की शिल्पाकृतियाँ दर्शाते हैं, जो मुनि तथा साध्वियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिन्होंने शांति तथा धीरज से अन्न जल का त्याग कर मृत्यु का अवलंब किया।

संभवतः कर्नाटक के सबसे प्राचीन पूर्ण विकसित निशिधि शिल्प जो सातवीं सदी का है, वह ऐहोळे का है।

तराशी हुई निशिधि की पटिया, जो मेगुडी, जिनेन्द्र भवन, के कंपाउंड के दीवार पर लगाई गई है, वह अपने तरह का पहला फलक है। हलके सुनहरे रेतिले पत्थर पर तराशे तथा अत्यंत सुंदरता से दर्शाये शिल्प के ऊपरी हिस्से के बीचों बीच अर्ध पद्मासन की मुद्रा में बैठे महावीर को दिखाया गया है। निचले भाग के तीन सिंहमुख जैसे सिंहासन के रूप में पीठ को सूचित करते हैं। जिन को चामर झुलाते एक आचार्य को बायीं ओर दिखाया गया है, जिसके हाथ में मोरपंख तथा कमंडल लिए दाहिने ओर के व्यक्ति की ओर उन्मुख है। जिन के सेवकों को जो मोरपंख लेकर दर्शाया गया है, यह पूर्व-कुशान शिल्प की ही साक्ष्य है। जैनमुनि तथा साध्वियों (माताजि) के मार्ग के छोटे छोटे जीव जंतुओं को झाडते, साफ करते दिखाया गया है, ताकि जब ये जैनमुनि पैदल चलने लगे तो उनके पैरों तले वे रौंद न जाए या आहत न हो।

जैनप्रत्याशि हाथ जोडकर पर्यकासन में प्रार्थना की मुद्रा में बैठे है। सल्लेखन का व्रत लेने वाला व्यक्ति मस्तक के ऊपर उष्णिश की गाँठ के साथ, कान में कुंडल, हाथों में कंगन तथा पैरों में पायल धारण किए हुए हैं। जिससे वह व्यक्ति अभिजात वर्ग का लगता है। हालाँकि इतने सजे-धजे व्यक्ति की पहचान नहीं होती। फिर भी उसके रविकिर्ती होने की संभावना को नकारा नहीं जा सकता। यह दुर्भाग्य की बात है कि चार पंक्तियों वाला वह पुरालेख जो कि एक शिल्प के नीचे लिखा गया है, उसे इस तरह से मिटा दिया गया है कि उसे पढ़ा ही नहीं जा सकता।

उपर्युक्त निशिधि स्मारक के सादृश्य साधारण शब्दों में कहा जाय तो यह बादामी का संग्रहालय ही है। और एक पंक्तिवाली पाषाण पिका उपर्युक्त वर्णन में थोड़े से अंतर के साथ मेल खाती है। किंतु यह तख्ती किसी भी पुरालेख से रहित है। जबकि शिल्पाकृति के नीचे का अत्यंत सुंदर आयताकार भाग स्मारक के विवरण सहित होना चाहिए था। इस युग के अनेक निशिधि शिल्प बेळ्ळारी जिले के येरबळ्ळि तथा अरबळ्ळि पहाडी में पाए गए। हालाँकि तराशा हुआ बहुत सारा विवरण अस्पष्ट है। फिर भी विद्यमान भाग उल्लेखनीय है। बेळ्ळारी जिले के अराबली पहाडी के पश्चिम भाग की चान पर जो निशिधि पुरालेख पाया गया है, उसने इस युग में जैनों के स्थान का अध्ययन करने में एक नई दिशा दी। 1400 साल प्रकृति में खुला रहने तथा प्राकृतिक आपदाओं की मार सहने के कारण ऐतिहासिक महत्व

के विवरण से युक्त यह च इन अब जर्जर हो रहा है और धीरे धीरे उसके टुकड़े गिरते जा रहे हैं। परिणामस्वरूप खुदा हुआ विवरण मिटता चला जा रहा है। प्रो. श्रीनिवास रिती फिर भी जितना संभव हो सका उतना भाग अर्थ लगा पाए और अपने इस पुरालेख को प्रकाशित कर दिया। (श्रीनिवास रिती A New Early Chalukyas Inscription, Journal of epigraphical society of India: vol VII (1980):1-2) कुछ जैन मुनियों के नाम है जिन्होंने सल्लेखन का व्रत धारण कर मृत्यु का अवलंब किया, जैसे, इंद्रनंदी, सिद्धनंदी, जयनंदी, सिरिनंदी तथा अजितसेन आचार्य का शिष्य धर्णसेन आदि। मध्यकाल में कई जैन मुनियों के नाम अजित सेनाचार्य के समान मिलते हैं। किंतु इस नाम का एक और प्राचीन अनुदेशक हमें अरबळिळ निशिधि में मिलता है।

पुलकेशि द्वितीय के कुछ ही पाषाण पुरालेख में से यह एक है और संभवतः बेळ्ळारी जिले में पाया जानेवाला

प्रथम शिलापट्ट है। पुरालेखों से स्पष्ट हो जाता है कि यह पहाड जैनमुनियों का वासस्थान था जहाँ कि प्राकृतिक गुफाएँ तप करने के लिए ही इस्तेमाल की जाती थी।

सातवीं सदी के प्रारंभिक दशक की इन निशिधि से यह स्पष्ट हो जाता है कि कळ्वप्पु तथा कोपणचल के

समान अरबळिळ पहाड भी प्राचीन समाधि पर्वत ही था, जो गुफाओं से युक्त था। सामान्य शब्दों में कहा जाय तो अर्बली निशिधि (लगभग 630 ए.डी.) सोसले निशिधि (लगभग 500 सी.ई.) के बाद की है और कळ्वप्पुगिरी की समकालीन है। अरबळिळ पुरालेख की भाषा प्राचीन कन्नड है।

महत्वपूर्ण जैन मुनियों के कारण किन्नूर संघ संपन्न हुआ। किन्नूर संघ के धर्मसेन गुरुवडिगळ तथा उनका शिष्य

बलदेव गुरुवडिगळ सातवीं सदी के कळ्वप्पु के पुरालेख में प्रमुखता से दिखाई देते हैं। सातवीं सदी एक अन्य घोषणा पत्रों में जैन साध्वी नागमतिगंटी तथा अदेयराडु अर्थात् अदेयराष्ट्र में चिन्नूर के शिष्य मोनिगुरुवडिगळ का उल्लेख मिलता है। अदेयराष्ट्र को आश्रयनदि-विषय भी कहा जाता है। यह शब्द वेल्लुर के पास उदयेदिरम के प्रदेश से युक्त है।

सद्गुणों की खान तथा असाधारण उत्कृष्टता अर्थात् अत्यंत सम्मानित संत पुष्यनंदि ने लगभग 700 में कोल्लेगाल (बस्तिपुर) के दक्षिण की पहाडी में इंटों

के बने जिनालय के परिसर में मोक्ष प्राप्त कर, पुरिमंडल के समर्पित शिष्य तथा अनुदेशक बलदेव में लगभग 700 में निषिधिका के पास अपने गुरु पुष्पदंत (पुष्पनंदी) के पास ही परमानंद की स्थिति को प्राप्त किया। (EC: IV : (R): कोल्लेगाल संख्या. 91-92. सातवीं आठवीं सदी).

ऐ. के. शर्मा के अनुसार, पहाड़ी के सतही भूमि पर तिप्पुर की तरह हर जगह, ईंटों का कूड़ा फैलाया गया है।

लगभग एक मीटर घना कूड़ा, ईंटों की टूटी फूटी मूर्तियाँ, पत्थरों के ढेर आदि देखा गया (शर्मा ऐ.के. 1992:203) किंतु 1981 में ही एक आदमी ने कोळ्ळेगाल के ग्रेनाइट से भरे इस पहाड़ी की सफाई की थी। प्रो. एम.एस कृष्णमूर्ति ने इसी साल जब इस स्थान को भेंट दी थी, तब उन्होंने एक जैन मुनि के अत्यंत करीने से तराशे चरण खोज निकाले थे, जिसके इर्दगिर्द लिखा गया था, भटारर श्री पादके पानद गोरव रायवर...अर्थात् भट्टर पानद गोरव रायवर के पवित्र चरणों का गोरवा पुरालेखकारों ने 8 वीं सदी में श्रवणबेळगोळ के पाद चरणों को पानद भट्टर के चरण है इसकी पहचान की है। (EC.11(R) No.11(9) :P.7).

दुर्भाग्य से छोटी सी पहाड़ी पर ईंटों में बनाया जिनालय है और जहाँ दो निशिधि तराशे गए हैं, जो इन्ही वर्षों में पुर्णतः नष्टप्राय हो गए। इस पुस्तक के लेखक ने अपने क्षेत्रकार्य के दौरान यह देखा है कि यह स्थान निरंतर नष्टप्राय होता जा रहा है, जहाँ बड़े बड़े गड्ढे निर्माण हो चुके हैं और जिनमें पानी भर गया है।

अध्याय सात

जैन – शिल्पकला भाग-आ

जिन शासनदेवता

अंबिका, पद्मावती, ज्वालामालिनी तथा बाहुबलि

इस काल के परिकर देवी, देवता तथा जैनों के अलौकिक तत्वों का मूर्तिकला को ब्योरेवार देखना परखना उचित होगा। ऐसा करने से हम आगामी काल की शिल्पकला पर उसके प्रभाव और फैलाव के पदचिह्न तथा निशान पा सके। अतः विशेष मुद्रा में बैठे तथा खड़ी प्रतिमाएँ तथा परिकरों को विस्तार से अध्ययन करने की आवश्यकता है। देवताओं की पूजा तथा उनकी लोकप्रियता जैनों के धार्मिक रीति रिवाजों में घुल मिल गए हैं। निर्ग्रन्थ समुदाय के उत्साही चरित्र नायकों ने अपने पसंद की पवित्र मूर्तियाँ तथा इष्ट देवता की प्रतिमाएँ साम्राज्य के कई जगहों को समर्पित कर दीं। इस प्रकार जैनधर्म की जड़ें गाँवों तक जनमानस को भी प्रभावित कर गयीं। इस पर विचार करना आवश्यक है। लोकप्रिय देवताओं की सन्निकटता से, यह गतिशील मत राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक सहयोग प्राप्त कर सका जिससे वह आगे बढ़ा।

छठी सदी ऐसा काल था, जब जैनधर्म धर्म-समन्वय की ओर विकसित हुआ, जिसमें जिन, जिनशासन देवता, विद्यादेवियाँ, सरस्वती, लक्ष्मी आदि का समावेश था।

मूर्तिकला की पृष्ठभूमि

जिनपार्श्व की गुफाओं में स्थित शिल्पाकृतियों का मूर्तिकला तथा ऐतिहासिक महत्व तथा धार्मिक वैशिष्ट्य की पिछले अध्याय में विस्तार से चर्चा की गयी है। इन दो शिल्पाकृतियों की एक प्रवृत्ति यानि वह आकृतियाँ जो जिन को पंखा झल रही है, जिनको शासन देवता कहा जाता है। जो जिन के आदेश की रक्षा करती हैं। यह अध्याय प्रमुख रूप से इस काल की जिन से दुय्यम देवताओं के शिल्पगत महत्व की चर्चा के लिए रखा गया है।

ध्यान मुद्रा में बैठी महावीर की प्रतिमाएँ, शासन देवता ऐहोळे-बादामी की गुफाओं में स्थित ध्यान मुद्रा में आसनस्थ शासन देवता के साथ महावीर की प्रतिमाएँ, अत्यंत प्राचीन उपलब्ध प्रतिमाएँ हैं। इंद्र ही प्रत्येक तीर्थंकर की सेवा करने हेतु शासन देवताओं की नियुक्ति करता है, अतः यक्ष यक्षियों (जैन मंदिरों के देवताओं का वर्ग) ने भी श्रद्धा का पद प्राप्त किया था किंतु जिन के बाद है। यह अरण्यवासी आत्माओं वाले परिकर जिन के प्रबल भक्त होने के कारण अलौकिक गुणों से युक्त थे और पौरुषयुक्त शक्तियों को शांत करने योग्य थे। जाहिर है कि इन शासन देवता के इर्द गिर्द एक स्वतंत्र श्रद्धा का वलय निर्माण हुआ। दुर्लभ संयोग के कारण, शासन देवताओं की स्वतंत्र प्राचीन प्रतिमाएँ चालुक्य युग को समर्पित की गयी थीं। ये असाधारण शिल्प दोनों उभड़ी-शिल्पाकृतियों तथा स्वतंत्र शिल्प प्राचीन पारंपरिक ज्ञान के पूर्तिकर्ता थे, तथा उनके युग तथा सृजकों के स्वप्न थे।

जैन मूर्तिकला का अपना एक व्याकरण है, जो कि जैन देवताओं के अध्ययन के लिए अनुकूल है। किसी भी पुगलेखिय साक्ष्य के अभाव में लांछन तथा जिन की सेवा करने वाले शासन देवी-देवताओं से हम तीर्थंकरों की पहचान प्राप्त कर सकते हैं और जैन पंथ की श्रेणी में उनका स्थान समझ सकते हैं। मूर्ति पर शिल्प की तिथि तथा नाम के साथ दाता का पुरा ब्योरा है, जिससे हमें प्रतिमा की आयु और क्षेत्र निश्चित करने में मदद मिलती है।

आमतौर पर जैन देवताएँ विशेष रूप से यक्ष और यक्षी जिन के परिकर देवताएँ हैं। मध्यकालीन मध्ययुग से प्रत्येक तीर्थंकर की बगल में सामान्यतः यक्ष यक्षी का

जोडा दिखाया गया है, जो या तो आसनस्थ या फिर खड़े हुए हैं। इस प्रकार 24 यक्ष यक्षीयाँ हैं। इस संदर्भ में, ऐहोळे तथा बादामी के शासनदेवता की प्रतिमाओं का ऐतिहासिक महत्व है। अंबिका ज्वालामालिनी तथा श्याम की स्वतंत्र प्रतिमाएँ इष्ट देवता की अनन्य तथा समृद्ध पदों को दर्शाती हैं। धरणेंद्र तथा पद्मावती की शिल्पाकृतियों को अन्य देवताओं के साथ विचाराधीन रखकर उस पर चिंतन मनन करना होगा। मूर्तिकला की शैली तथा अन्य विवरण का तत्कालीन युग तथा जैन शिल्पकला-साहित्य की पृष्ठभूमि पर चिंतन करने योग्य है। उक्त विषय पर तिलोपपण्णति जैसी पुस्तक को छोड़कर अन्य पुस्तकें परवर्ती युग की हैं। जबकि इस पुस्तक में केवल पूर्वी साहित्य का ही आधार लिया गया है। (नागराजय्य हं.प.: यक्ष यक्षी:1976).

प्राचीन काल से लोगों का बहुत बड़ा वर्ग स्थानिक देवी देवताओं, यक्षों, नागों तथा भारतीय मूल की स्त्री देवताओं की पूजा करता आ रहा है। जैन पंथ में भी विद्यादेवियों, श्रुतदेवी तथा यक्षियों ने बहुत बड़ा स्थान ले चुकी हैं। शासनदेवताएँ भी षोडशोपचार के अधिकारी थे, किंतु अष्टविध अर्चना के अधिकारी नहीं थे। (अभिषेक, पूजा, नैवेद्य, प्रदक्षिणा, नमस्कार, संगित, नर्तन तथा वाद्य) लौकिक लाभ पाने तथा प्रत्याशी इच्छाओं की आपूर्ति के लिए शासन देवताओं का आह्वान किया जाता है।

24 यक्षियों में से जिनको शासनदेवी कहा जाता है और जो इनमें से तीर्थकरों से संबंधित है, पाँच बहुत लोकप्रिय हैं जबकि अन्य भी उतनी ही श्रद्धास्पद हैं। चक्रेश्वरी, पद्मावती, अंबिका, ज्वालामालिनी तथा सिद्धायिका, ऋषभ, पार्श्व, नेमि (अरिष्टनेमि) चंद्रप्रभा तथा महावीर की परिकर देवताओं को अन्य देवियों से अधिक मान्यता मिली। विशेषकर तांत्रिक रीति रिवाजों में। संक्षेप में तत्कालीन युग के विद्यमान जैन अवशेषों के ढेर में मात्र अंबिका, पद्मावती तथा ज्वालामालिनी के शिल्प उभरकर दिखाई देते हैं।

कुछ जैन प्रतिमाएँ परिकरों तथा शासनदेवताओं से रहित भी नजर आती हैं। कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित पांचफनों वाली अर्हत पार्श्व की अद्वितीय प्रतिमा (जो गदग जिले के मल्लसमुद्र गाँव में है जोकि जैन तीर्थ क्षेत्र मुळगुंद के मार्ग पर है) सातवीं सदी के उत्तरार्ध के आसपास की है। यह प्रतिमा किसी तीर्थकर की सबसे प्राचीन प्रतिमा है। जो किसी मंदिर को समर्पित की गई है। किंतु हाल ही में जैन नारायण मंदिर (पट्टदकल्ल) के पीछे के स्थान पर किए गए उत्खनन में खोजी गई छठी

सदी की जैन प्रतिमा तथा बनवासी के पास गुंडनापुर में किए गए उत्खनन में पायी गई छठी सदी की ऋषभ की प्रतिमा परवर्ती प्रतिमा होगी। यह स्वतंत्र प्रतिमाएँ चामरधारी तथा शासन देवताओं से रहित हैं।

सामान्यतः स्वीकृत नियमानुसार यक्षी को जिन के बायीं ओर तथा यक्ष को दाहिनी ओर दिखाया गया है। किंतु उनके स्थान का क्रम नौवीं सदी के अनंतर नया लगता है। चालुक्यों के युग के दौरान ऐहोळे तथा बादामी की गुफाओं में, यक्षी पद्मावती को पार्श्व को दाहिनी ओर दिखाया गया है। किंतु पोम्बुरच के समान दिखनेवाली दो प्रतिमाएँ जो कि नौवीं सदी की हैं, जिसमें पद्मावती बायीं ओर है। यहीं से यक्षी का दाहिने से बायीं ओर होने की शुरुवात हुई।

अंबिका- मूल स्रोत

पहली सदियों के आचार्य जैसे जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (520-623), हरिभद्र सूरि (550-640), पुत्राट संघ के जिनसेन (783), और कवि पोन्न (960) ने अंबिका का आह्वान किया है। अपभ्रंश साहित्य के जादुगर पुष्पदंत (970) ने कहा है कि अंबिका अपने पूर्व जन्म में जैन श्रविका थी। उसका विवाह जैन ब्राह्मण श्रावक के साथ हुआ था और एक जैन त्यागी को आहार देकर वह देवी बनी। वह उज्जयंत (गुजरात के गिरनार) के जंगल में वास करती थी। वह साहित्य की प्रत्येक गतिशीलता की प्रेरणा है। श्वेतसिंह पर सवार वह दिव्य सौदामिनी को भी मात देती है। उसके तीक्ष्ण नाखून हैं जिससे वह दुश्मनों की तलवार आदि को भी आसानी से काट देती है। यह सब उसके वर्णन का अभिन्न अंग है।

ऐसा माना जाता है कि तर्कविद भट्ट अकलंक (725-80) ने अपने बौद्ध विरोधी को पराजित करने के लिए अंबिका का आह्वान किया था। पुत्राट संघ (कर्नाट देश के जैनमुनियों की एक शाखा) के जिनसेन ने 784 में वर्धमानपुर (सौराष्ट्र) में हरिवंश पुराण लिखने का कार्य पूर्ण किया। कवि में उज्जयंतगिरि के शिखर पर बने अंबिका यक्षी मंदिर का संदर्भ दिया है। अरिकेसरि तृतीय का दरबारी कवि सोमदेवसुरि (925-84) तथा प्रसिद्ध काव्य यशसतिलक चंपु के रचियता ने राष्ट्रकूटों के युग में रूढिगत अंबिका पंथ का संदर्भ दिया है।

अगर हम, रविकीर्ति द्वारा जिक्र किए गए किसी भी साहित्य या शिल्प की मुखमुद्रा का अध्ययन करेंगे तो यह अत्यंत आश्चर्यजनक लगता है कि ना ही कोई प्रतिमा, शिल्प या पेंटिंग और ना ही कोई साहित्य, पाद्य या संदर्भ कर्नाटक या

दक्षिण में प्राप्त है। फिर ऐसा कौन सा स्त्रोत था जिस पर रविकीर्ति अंबिका की उल्लेखनीय प्रतिमा को रूपाकार दिया। इस पर विस्तार से चर्चा की आवश्यकता है।

अंबिका की मूर्तिगत प्रवृत्तियों का प्रस्तुतीकरण, छठी सदी से धीरे धीरे होने वाला विकास ही है। जो गिरनार पर्वत की ढलान पर बसे गिरिनगर की कहानी पर आधारित है। नागकुल के कवि विमलसूरि ने अपने महाकाव्य पउम चरिउ (सी.ई 473) में सिंहवाहिनियों का उल्लेख किया है। जो संभवतः सबसे प्राचीन स्त्रोत है, जहाँ से इस परिकल्पना का उत्तरोत्तर विकास होता गया। जिनभद्रगणिन क्षमाश्रमण अपने आत्मकथन विशेषवश्यकभाष्य में अंबाकुष्माण्ड का आह्वान करते हैं।

चर्चाधीन पंथ के विकास से जुड़े स्थानों में (चाहे गिरनार से ही उत्पन्न हुए हैं) अकोटा (वडोदरा, बरोडा, गुजरात) में शिल्पगत प्रतिमा को तोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। कांस्य प्रतिमाओं के ढेर में बीस से अधिक (जो कि छठी तथा आठवीं सदी की हैं) प्रतिमाएँ अंबिका की हैं। अब तक की विद्यमान अंबिका की प्राचीन प्रतिमाएँ छठी सदी के मध्य तथा उत्तरार्ध की हैं, जिसमें स्वतंत्र तथा जिन से संयुक्त दोनों का समावेश है और जो दो हाथोंवाली हैं और ये अकोटा (अंकोटक) की प्रतिमाएँ हैं।

जिन से संयुक्त प्रतिमाओं में, अंबिका पहले तीर्थंकर ऋषभ तथा 23 वें तीर्थंकर पार्श्व का ही प्रतिनिधित्व करती हैं ना कि 22वें तीर्थंकर नेमी का। यह यही सूचित करता है कि नेमिनाथ की सेविका का, देवता के रूप में नेमिनाथ की प्रतिमा के साथ होना परवर्ती विकास ही है ऐसा कहा जाता है, जो कि सातवीं सदी के बाद ही हुआ है। तथापि ऐहोळे तथा अकोटा की प्रतिमाओं में बहुत कम समानताएँ हैं।

चर्चित कथा का उगम

अंबिका का प्रकट रूप परंपरा में गहरी जड़ें जमा चुका है। सौराष्ट्र, गिरिनगर नामक शहरों में (आधुनिक जुनागढ) सोमशर्मा अपनी पत्नी अग्निना तथा दो पुत्रों शुभांकर तथा प्रभांकर के साथ रहा करता था। सोमशर्मा कट्टर जैन ब्राह्मण था और उसने अपने कुल के ब्राह्मणों को भोजन के लिए निमंत्रित किया। इस बीच जैनमुनि वरदत्त अपना आहार पाने के लिए चले जा रहा था। अग्निना ने ब्राह्मणों के लिए बनवाए पकवान इस जैन मुनि को खिला दिए। इस पर सोमशर्मा क्रोधित हुआ और उसने अपनी पत्नी पर केवल गुस्सा ही नहीं किया बल्कि उसे पीटा भी।



Ambika, Museum, Aihole

उसने अग्नीला तथा बच्चों को घसीट कर घर से बाहर निकाल दिया। अग्नीला बच्चों को लेकर उज्जयंतगिरी (गिरनार पर्वत) पर आयीं और वरदत्तमुनि से मिली। एक सूखे आम्रवृक्ष ने उसके भूखे बच्चों को फल दिये।

इधर अग्नीला के जाने के बाद चमत्कार होने लगे। कड़ियों को खिलाने के बाद भी अग्नीला द्वारा बनाया गया भोजन खतम ही नहीं हो पा रहा था। अपनी भूल का अहसास होते ही क्रोधी सोमशर्मा उसको वापस ले जाने के लिए दौड़ा चला आया। अग्नीला अपने पति का मानस समझ नहीं पायीं और दुख और सदमे से

मर गयी और फिर उसने अंबिका यक्षी के रूप में जन्म लिया। फिर सोमशर्मा की भी मृत्यु हुई और उसने सिंह के रूप में जन्म लिया और अंबिका का वाहन बन गया।

इसी प्रकार की समान घटनाएँ परवर्ती क्षत्रप के युग में (प्रथम-द्वितीय शताब्दी) गिरनार पर्वत में घटित हुई होंगी और फिर अंबिका की जन्म की कथा को भी भिन्न भिन्न आयाम प्राप्त हुए होंगे। इस कथा में अंतर्जातीय विवाह के बीज हैं। अंबिका की कथा में लोकभाव तथा मत मतांतरों का संगम हुआ है। यह देवी नेमिनाथ के जीवन के साथ अभिन्नता से जुड़ी हुई है। सौराष्ट्र के गिरनार पर्वत से पार्श्वभूमि पर अंबिका और नेमिनाथ की कथा चलती है और तुरंत ही यह कथा दूर तक फैल गयी और सातवीं सदी में चालुक्यों के शासनकाल में पहुँचकर राज्य की देवी, परिवार की देवी, सेवकवर्ग का स्थान प्राप्त कर गई। इस तरह अंबिका की प्रतिमा तथा उसके पंथ का सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक परिवेश तथा ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अनुशीलन करना चाहिए। प्राचीन कन्नड कवि पोन्न (960) ने इस देवी का आह्वान किया है और अंबिका की संपूर्ण कथा का सारांश एक चरण में प्रस्तुत किया है। (नागराज हंपा- (संपा.) शांतिपुराण-1982) पोन्न ने जैन मुनि वरदत्त तथा पुत्र शुभांकर तथा प्रभांकर के नामों का उल्लेख किया है।

उर्वरता का प्रतिनिधित्व करने वाली मातृदेवी अंबिका (अम्बा, आम्रा बहुपुत्रिका कुष्मांडिणी बाला देवी) तथा 22 वें तीर्थंकर नेमिनाथ की शासनदेवी अंबिका सबसे अधिक प्रसन्न करनेवाली प्रिय यक्षी थी। भक्तगण संतान प्राप्ति के लिए उसकी मन्त्रत माँगा करते हैं। दो पुत्र तथा आम्रलुंबी उर्वरता का प्रतीक है तो सिंह शक्ति का संकेत है। परवर्तीकाल में शक्ति को दर्शाने वाले अन्य घटक जैसे तलवार, घंटा, अंकुश, फंदा तथा वज्र तश्तरी आदि का समावेश हो गया। जिनेश्वरसुरि लिखित अंबिकादेवीस्तुति में (12 वीं सदी) उसे जगज्जननि तथा जगत स्वामीनी कहकर उसका आह्वान करते हैं। जिन की बराबरी में ही साहित्यिक तथा शिल्पगत डाटा दोनों अंबिका के पद के उत्थान की ओर संकेत करता है। अंबिका उस युग में काफी लोकप्रिय देवी थी। (शाह यू.पी. Iconography of Jaina Goddess Ambika- Journal of University of Bombay- Vol. IX. 1940-41. Pp. 147-69).

भैरव पद्मावतीकल्प में अंबिका को आम्रकुस्मांडिनी के नाम से संबोधित किया गया है। आम्रवृक्ष के साथ उसका संबंध दर्शाने के कारण अंबिका को एक और उपनाम मिला आम्र, और वह मातृदेवी होने के कारण वह अंबा भी कहलाती है।

और उसका वाहन सिंह होने के कारण उसे सिंहवाहिनी भी कहा गया है। हरिभद्रसुरि (500-640) उसका वर्णन अंबा कुष्मांडी कहकर पुकारते हैं। पद्मावती की तरह अंबिका भी वन्य-देवता है, जिसका संबंध आम्रवृक्ष से है। किंतु आश्चर्य की बात यह है कि वह एक मात्र यक्षी या शासन देवता है जो वृक्ष के नीचे खड़ी या बैठी है। क्योंकि यह कुष्मांड वर्ग से होने के कारण तिलोयपन्नति के अनुसार अंबिका को कुष्मांडी (कुष्मांडिनीदेवी) भी कहा जाता है।

ई. 634 के ऐहोळे की अंबिका की चर्चा करते समय हम बादामी की जैन गुफाओं में स्थित इसी देवी की प्राचीन प्रतिमाओं के महत्व की उपेक्षा नहीं कर सकते जो कि संभवतः कुछ दशक पूर्व की होगी जो उत्तरी दीवार के मंडप पर तराशी गयी थी।

अन्य 23 यक्षियों की तरह अंबिका को भी जिन नेमिनाथ (22 वें तीर्थंकर) की बायीं ओर अपने दो पुत्रों के साथ बैठा हुआ दर्शाया गया है। सामान्यतः उसके दाहिने हाथ में आम का गुच्छ दिखाई गया है। अंबिका को जिन पर अवलंबित नहीं दिखाया गया है। वह स्वतंत्र है यही उसके पद को उन्नत करता है। इस आकृति की एक अन्य विशेषता यह है कि अंबिका स्वयं किसी बच्चे को उठाए हुए नहीं हैं। बल्कि दो सेविकाएँ उसकी बगल में बच्चों को लिए हुए हैं। और एक असामान्य बात यह है कि अंबिका बड़ी भव्यता के साथ केंद्र में बैठी हैं और उसे सेविकाओं ने घेरा है तथा उनमें से तीन दाहिनी ओर दो और बायीं ओर एक हैं।

इस अवधारणा से प्रेरित होकर शिल्पकारों ने एलोरा की गुफाओं में अंबिका को अनुयायियों के साथ दिखाया है। अन्य चरित्रगत प्रवृत्तियों में एक और दुर्लभ विशेषता पर ध्यान आकर्षित करना जरूरी है। देवी ने अपना दाहिना पैर बायीं जंघा के थोड़ा ऊपर लेकर सीढियों पर अपना पैर रखे हुए हैं और उसका बायां पैर बड़ी सुंदरता के साथ लटकता हुआ दिखाया गया है। अब तक इस पर अधिक गौर नहीं किया गया था। सामान्यतया लगभग हर प्रतिमा में देवियों को ललितासन में दिखाया गया है। लेकिन नियम के कुछ अपवाद भी मिलते हैं। मैं यहाँ कुछ उदाहरण देना चाहूँगा जहाँ अंबिका ने अपना दाहिना पैर बायीं जंघा पर या फिर सीढी या फिर नीचे की सीढी पर रखा है।

1. नौवीं सदी की अकोटा में स्थित अंबिका की कांस्य की प्रतिमा (SI No. 7 p. 46)

2. ग्यारहवीं सदी की शिमोगा (कर्नाटक) में स्थित प्रतिमाएँ (Sl.No. 77 p. 130)
3. नौवीं सदी की अकोटा में स्थित दो कांस्य की मूर्तियाँ (Sl.No. 9 p. 49)
4. माऊंट आबू के लूण वसही मंदिर के बरामदे की छत पर तराशी 13 वीं सदी की प्रतिमा (Sl.No. 18 p. 58)
5. कर्नाटक के कंबंदहळि के पंचकूट बसदी की स्वतंत्र मूर्ति (Sl.No. 79 p.133)
6. आठवीं सदी की भाल्कि में स्थित स्वतंत्र स्थानांतरित प्रतिमा (कर्नाटक) (इस पुस्तक के लेखक द्वारा खोजी गई)
7. दिलचस्प बात यह है कि ज्वालामालिनी जो काल और स्थान के क्रमानुसार अंबिका से संबंधित है, उसका बायां पैर नीचे की सीढ़ी पर लटकता हुआ दिखाया गया है।

जगन्नाथ सभा जैनगुफा (एलोरा) के मंदिर के मुख्य दालान के द्वार पर हमने अंबिका की ऐसी आकृति देखी, जिसमें वह अपना दाहिना पैर मोड़कर बैठी है। यह सारी विभिन्नताओं पर विचार की आवश्यकता है। आश्चर्य की बात यह है कि इस पुस्तक के लेखक ने एक ऐसा उदाहरण भी पाया है जहाँ अंबिका जिन की बगल में बैठी है, उसका बाया पैर सीढ़ियों पर लटक रहा है और दाहिना पैर मुड़ा हुआ है। यह शिल्पाकृति कंबदहळि के पंचकूट के मंदिर के मध्यवर्ती छत में बनी है और मध्य में बैठे नेमिनाथ के चारों ओर दिक्पालक हैं। शिल्प कलाकारों को मान्य रीति रिवाजों को क्यों बदलना पड़ा यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है।

ऐहोळे की अंबिका की शिल्पाकृति की पंक्ति (1.22 x 1.52) अप्रतिम है। परिवार में देवी अंबिका की अनुयायियों में से तीन दाहिने ओर एक बगल में तथा दो-तीन दाहिनी ओर उसके चरणों के पास है। और ये सभी खड़ी हुई छोटी छोटी देवियाँ ही हैं। नीचे की ओर बैठी एक सेविका की आकृति अधिकतर टूटी हुई है जबकि दूसरी महिला की प्रतिमा दिखाई तो पड़ती है किन्तु उसका मुख भी कुछ टूट सा गया है। दाहिने ओर के अनुयायियों में से एक के हाथ में कद्दू के आकार का फल है। उसकी सुंदर आकृति उसके दाहिने खंडित पैर के साथ अखंड है और उसका मुस्कराता चहरा उसके उल्लास को ही परावर्तित करता है। एक और अप्सरा जिसका चहरा धुंधला सा है अपने स्वामिनी के बच्चे को उठाए हुए है। दुर्भाग्य से बालक का चेहरा तथा पैर आदि भग्न हैं।

आम्रवृक्ष के नीचे बैठी सुंदर पतली कमरवाली युवतियों से घिरी अंबिका की प्रतिमा भग्न होते हुए भी भव्य है। दो हाथों वाली दुबली पतली अंबिका की कमर सिंहकटी जैसी है।

वह एक भग्न भुवन सुंदरी सी लगती है। अंबिका के अलंकारों का विवरण तथा उसकी अनुयायियों का रेला एक दूसरे से आच्छादित है। तीन लड्डियों का कमरबंद तथा सेविकाओं तथा स्वामिनियों द्वारा पहना हुआ मुकुट और उनके हाव भाव लगभग समान ही हैं। असामान्य मूर्तिगत मुद्राओं से यह प्रतिमा अद्वितीय है। जो कि सारे दक्षिण में कला की परंपरा को अज्ञात थी। होयसळ राजा विष्णुवर्धन द्वारा जारी किए सिक्के पर सिंहवाहनी अंबिका का चित्र है। दिगंबरों की परंपरा में भी उसे कुष्मांडिनीदेवी के रूप में जानी जाती थी।

धरणेन्द्र (नागराज, फणिपति)

धरणेन्द्र तथा पद्मावती, जिनेन्द्र पार्श्व के साथ हमेशा नज़र आते हैं। धरणेन्द्र, नागों का राजा अपनी पाँच या सात या नौ फनों से पार्श्व के सिर पर छत्र बनाता है। तो पद्मावती उसके ऊपर छत्र पकड़े हुए हैं। श्वेतांबर परंपरा में धरणेन्द्र का उल्लेख यक्ष के रूप में हुआ है और जिसे चार हाथों के साथ दिखाया है।

कर्नाटक के शिल्पकला में तमिळनाडु और आंध्रप्रदेश में भी धरणेन्द्र एक सर्प के रूप में दिखाया गया है।

जहाँ वह पार्श्व के सिर पर अपने फन से छत्र बनाए हुआ है। कुछ शिल्प अधिकतर तमिळनाडु की शिल्पाकृतियाँ जैसे कळुगुमलाइ, आनैमलाइ तथा पेच्चिपल्लम में धरणेन्द्र को मानवाकार में चित्रित किया गया है। जहाँ उसे अपने पद नागराज के अनुसार उसे सर्पफन के साथ दर्शाया गया है। धरणेन्द्र ने अपना दाहिना हाथ तर्जनीहस्त शैली में ऊपर उठाया है और अपना बायाँ हाथ राजदंड पर रखा है और तीन सिरोंवाला यह सर्प उसके मुकुट की शोभा बढ़ाता है। धरणेन्द्र को जब आक्रमण करते हुए दिखाया गया है तब उसे केवल पशु आकृति के रूप में ही दिखाया गया है।

ऐहोळे की शिल्पाकृति के पार्श्व में बायीं ओर प्रार्थना की मुद्रा में जो आदमी बैठा है, विद्वानों के अनुसार वह पुरुष धरणेन्द्र नागराज है। किंतु फनवाली पुरुषाकृति जो पद्मावती के पीछे है वह धरणेन्द्र है। पद्मावती और पीछे वाले व्यक्ति दोनों को

एक ही फन में दिखाया गया है और जिस प्रकार ये दोनों एक दूसरे से लगकर खड़े हैं उससे यही लगता है कि ये दोनों पति-पत्नी हैं।

बायीं ओर से मंडराकर आनेवाली प्रतिमाओं के हाथ में एक बहुत बड़ा फूल है जो जिन पर फेंकना चाहती है तथा वह प्रतिमाएँ जो हाथ जोड़कर बैठी हैं इन आकृतियों की समानता पर मनन करते समय हमें यही लगता है कि वे एक ही व्यक्ति का प्रतिनिधित्व कर रही हैं। राजमुकुट तथा बाजुबंद के अलावा बायें कंधे से दायीं ओर जानेवाला मुक्तामणि का यज्ञोपवीत दोनों प्रतिमाओं की घनिष्ठ समानता को ही दर्शाता है। यह समानता उनकी पहचान को दर्शाने के लिए ही है। अतः प्रार्थना की मुद्रा में बैठा पुरुष कमठ है।

पार्श्व और (धरणेन्द्र) अपने फन पर चमकते मणिवाले नागराज का संबंध की प्राचीनता महाकवि विमलसूरि के नागेन्द्रकुल (CE.473) में पायी जाती है।

पासं उरग महाफणि-मणिसु पज्जलियम (विमलसूरिः प्राकृत पउमचरिय) (1.6)

ऋमानुसार तथा सामान्य शब्दों में समन्तभद्रदेव (550-600) प्रसिद्ध स्तुतिकार ने चतुर्विंशति जिन की प्रार्थना स्वयंभू स्त्रोत्र में धरणेन्द्र के प्रकटीकरण की स्पष्ट चर्चा की है।

नागछत्र एक प्रतीक है और अर्हत पार्श्व तथा उसके पूर्वजों के साथ नागजाती के संबंध का सूचक है। देवजाती के नागकुमारों के स्वामी धरणेन्द्र का उल्लेख आगमों में है, जिसकी रचना पहली तथा चौथी सदी के मध्य की गयी थी। इसी प्रकार उपसर्ग का संदर्भ तथा धरणेन्द्र के तथा पार्श्व का अंतःसंबंध पहली बार मथुरा के पार्श्व की प्रतिमा में पहले मिला था जो कि दूसरी तथा तीसरी सदी की है। जबकि कमठवध का प्रतीक परवर्ती है और यह विश्वास चौथी सदी के बाद ही प्रारंभ हुआ था। इस संबंध में, ऐहोळे तथा बादामी की गुफाओं की पार्श्व तथा उपसर्ग के शिल्पों के साथ महत्तर ऐतिहासिक महत्व जुड़ा है कारण वे प्राचीन विद्यमान नमूने हैं। शिल्पकारों की सामग्री का स्रोत संभवतः यतिवृषभ (550) की कृति तिलोयपण्णति (त्रिलोक- प्रज्ञापति) होगी। जैसे धनसेनाचार्य ने विस्मृत में जानेवाले षट्खंडागम को लिपिबद्ध कराया। उसीप्रकार यति वृषभाचार्य ने त्रिलोकसार को लिपिबद्ध किया और जैन परंपरा को अनुसार चार अनुयोगों में प्रथमानयोग को विशेष महत्व दिया। इस कारण से यक्ष- यक्षियों क परंपरा साहित्य में प्राप्त हुई।

अमोघवर्ष नृपतुंग (814-80) के धर्मगुरु विद्वान् आचार्य जिनसेन पार्श्वभ्युदय लिखने से पूर्व निश्चित ही ऐहोळे तथा बादामी की गुफाओं को भेंट दी होगी। पार्श्वभ्युदय मंदाक्रांता छंद में लिखा गया एक विशेष काव्य है। इस काव्य के प्रसिद्ध पार्श्व-संबर-धरणेंद्र कथा को बड़े ही सुंदर तथा तीव्रता के साथ चित्रित किया गया है।

धरणेन्द्र, पाताल का राजा, कमठ द्वारा उत्पन्न आपदाओं का नाश करने वाला लोकप्रिय शासन देवता हैं। उसके अन्य नाम भी हैं जैसे फणपति, फणिराजा नागराज, नागेन्द्र तथा धरणेन्द्र। नागराज का शिल्प उस युग के जैनेतर परंपरा में आम था। बादामी के जंबुलिंगेश्वर मंदिर में गूढमंडप (नवे, रामतलवितान) ई. स. 699 में नागराज का एक बहुत बड़ा तथा सुंदर शिल्प है। धरणेंद्र, धरणेन्द्र का संक्षिप्त नाम है। पुरुष और स्त्रियों का भी धरणेन्द्र पर नाम रखा गया है। नागों के प्रमुख धारण, पृथ्वी से निकलकर गहरे ध्यानधारणा में बैठे अर्हत पार्श्व के ऊपर अपना विशाल फन फैलाया है। उनकी प्रमुख रानी पद्मावती भी सहजता से ध्यान धारणा में लीन जिन की रक्षा के लिए रत्नजटित छत्र लेकर खड़ी हो गयी है। समर्पण की यह निखालिस क्रिया विभिन्न शिल्पों में अभिव्यक्ति पा गयी है।

कर्नाटक में प्राप्त धरणेंद्र के कई शिल्पों तथा शिल्पाकृतियों में बस्तिहळिळ (हळेबिडु) के पार्श्व मंदिर के मध्यवर्ती छत्र की शिल्पाकृति तथा होम्बुज तथा श्रवणबेळगोळ के सुंदर अकन बसदी (*Nagarajaiah, Hampa: Akkana Basadi: 2000-1.2*) के गर्भगृह में प्रस्थापित धरणेंद्र की प्रतिमा (3-6 फीट) उल्लेखनीय है। गोदावरी जिले की ध्यान मुद्रा में कमल में बैठी अर्हत पार्श्व की अद्वितीय प्रतिमा जिसके ऊपर सात फनोंवाले छत्र की प्रतिमा चैत्रे के सरकारी संग्रहालय में है। जिसमें न चामरधारी है ना ही पंखेवाले देवदूत है। बल्कि पद्मावती और धरणेन्द्र ही जिन-पार्श्व के चामर झला रही हैं। इस शिल्पाकृति में धरणेन्द्र तथा पद्मावती को मानवाकार रूप में दिखाया है जो पार्श्व को चामर झला रहे हैं। दोनों को मात्र एक फन में दिखाया गया है। और दोनों के हाथ जिन सिंहासन के पीछे वाले दंड पर टिके हुए हैं।

ज्वालामालिनी और श्याम

अंबिका के समान, ऐहोळे ज्वालामालिनी तथा श्याम की प्रतिमाएँ, जो ऐहोळे के आठवें तीर्थंकर को चंद्रप्रभ के स्त्री तथा पुरुष सेवक के रूप में हैं, भारत में अपने किस्म की प्राचीन विद्यमान प्रतिमाएँ हैं। ज्वाला की स्थानांतरित चार फुट

वाली ऊंची प्रतिमा ऐहोळे जैन बसदि के सामने स्थित विरुपाक्ष देवालय (गौरीगुडी) के सुखनासी में प्रस्थापित है, उसे गौरी (पार्वती) की प्रतिमा के नाम से जाना जाता है। जाहिर है कि यक्षी ज्वालामालिनी की जैन प्रतिमा संभवतः मध्यकालीन जिनालय से निकाली गयी और गौरीगुडी में उसे प्रस्थापित किया गया। ज्वालामालिनी देवी उपनाम अग्निवाहिनी देवी, आठवें तीर्थंकर चंद्रप्रभ की शासनदेवी को प्रायः उसकी छाती से उठती हुई ज्वाला में दिखाया गया है।

यक्ष भद्रासन पर एक छत्री के नीचे तथा चाप के आकारवाली प्रतिमा के नीचे बैठा है। वह अर्धपर्यकासन में बैठा है। उसने यज्ञोपवित, रत्नहार, कंठी, पायल, कुंडल, स्कंध कवच तथा कंगन पहने हुए हैं। उसके कुंडल कंठी, स्कंध-कवच आदि तथा बाजूबंद की नक्काशी तथा कलाकारी यक्षी के अलंकारों से मिलती है। किंतु यक्ष के गले का यज्ञोपवित अधिक सजा-धजा है जबकि कंकन तथा पायल यक्षी की तुलना में साधारण से है। यक्ष का शंखाकार किरीट जिन के पुतले की अपेक्षा यक्षी का ही स्मरण दिलाता है जो कि सामने से एक बड़े तमगे के समान लगती है। दोनों प्रतिमाओं की कलाकारी में कुछ भिन्नताएँ हैं। अत्यंत शालीनता से बैठी युवती की देह तथा आलथी पालथी मारकर बैठे पुरुष की सुदृढ़ देह में एक प्राकृतिक भिन्नता है। यक्ष के पीठ से होकर उसके दाहिने पैर तक योगपट्ट है। और हंस उसके तीन स्तरों वाला भद्रासन वहन करती है। उसके चार हाथ हैं और यक्षी की तुलना में अलग अलग स्थानों पर है। उसके ऊपरवाले दाहिने हाथ में परशु और बायें हाथ में कश है और शेष दो हाथों में से दाहिने हाथ में पद्म और बाया हाथ अभय मुद्रा में या फिर उसमें फल है। जो कि अब भग्न है। उसके सिर के पीछे प्रभामंडल है। उसकी अधमूदी आँखें, तराशे हुए अधर, तथा गालों के पास की रेखाएँ ज्वालामालिनी यक्षी जैसी ही है।

ज्वालामालिनी के ही समान ही श्याम यक्ष सातवीं सदी की स्वतंत्र प्रतिमा इस देश के प्राचीन किंतु विद्यमान शिल्प है। यह यक्ष हमें विरुपाक्ष मंदिर के यक्षी की याद दिलाता है। इन दोनों प्रतिमाओं में छत्र पद्मासन, प्रभामंडल की समानताएँ प्राप्त होती हैं। इसके अलंकार भी बादामी की चार नंबर की गुफा में पाये जाने वाले छोटे यक्षों की याद दिलाते हैं। योगपट्ट तथा अन्य आलंकारिक विवरण यह उद्घाटित करते हैं कि ये शिल्प किसी एक ही शाखा के शिल्पकारों से बनाए गए हैं, संभवतः एक ही काल के हैं। पहली समानता हमें प्रतिमा की पहचान में सहायता देती है, तो दूसरी तिथि को समझने में मदद करती हैं। (शेडर 1996)

ज्वालामालिनी देवी

प्रो. एस शेट्टर ने ज्वालामालिनी की प्रतिमा की प्रमुख प्रतिमागत प्रवृत्तियों का विस्तृत विवरण दिया है। वह भद्रासन में बैठी हैं। उसका बायाँ हाथ नीचे अपने वाहन पर स्थिर है। उसके पार्श्व में एक पाषाण की मेहराब है तो उसके सिर के ऊपर एकछत्र। वह पूर्णरूपेण अलंकारों से सुसज्जित है। उसके गले में एक हार है, जो रत्नजडित है, जिसे कंठी कहा जाता है और उसके छाती का आभूषण है, वैकक्षक जिसमें मंगल फलक है। उसकी देह पर एक पट्ट है जो यज्ञोपवीत की तरह है। उसने रत्न कुंडल भी पहने हुए हैं, तो साथ में नूपुर तथा कंगन भी है। कमरबंद जिसके कई सारे पदक उसकी मृदुल जांघों पर लटके हुए हैं। उसके सिर के पीछे एक प्रभामंडल है। उसने करंड-मुकुट पहन रखा है। जिसके मध्य में आसनस्थ जिन की प्रतिमा है। उस मुकुट से दूसरी ओर ज्वालाएँ परावर्तित हो रही हैं। उसके केश उसके कंधों पर फैले हैं। उसने बाजूबंद भी पहने हुए हैं।

उसके आठ हाथ हैं, उसका बायाँ पैर तथा उसका वाहन टूटा हुआ है और बाकी सब ठीक ठाक हैं। इस देवी के दाहिने वाले चार हाथों में बाण, त्रिशूल, चक्र, तथा खड्ग हैं तो बायें वाले चार हाथों में धनुष्य, कश तथा शंख हैं और एक हाथ उसकी जंघा पर है तो दूसरे हाथ में कोई फल है। जैसा कि ऊपर कहा गया है देवी का वाहन सिवाय उसके दो सिंगों तथा पूँछ के अलावा सब कुछ नष्टप्राय है, जिससे इस बात का पता तो चलता है कि यह वाहन या तो भैंसा हो या बैल।

यक्षी की देह एकदम समानुपातिक, धीर, गंभीर तथा उसकी बनावट एकदम वैशिष्ट्यपूर्ण है। उसके गोल तथा कठिन वक्षों पर यज्ञोपवीत है। रत्नजडित माला वैकक्षक जो वक्षों को उभार देते हैं और पदक जो उसके दोनों वक्षों के मध्य से गुजरता है और मध्यपट पर स्थिर होता है जो बहुत प्रभावशाली लगता है जिसे बहुत ही सलीके से तराशा गया है। उसकी कमर पतली है, और लचीले पेट तथा लचिली रचना सब मिलकर उसके भारी वक्षों को आधार प्रदान करते हैं, उसके कई हाथ तथा शंखाकार मुकुट है। यह प्रतिमा एकदम सुंदर तथा मेगुडी मंदिर की अंबिका की प्रतिमा के बराबर है, जिसे जैन धर्म की सेवार्थ इस जगह के शिल्पकार ने तराशा था। उसके मुख पर तटस्थता और शांति है। यह भाव उसकी अधमूंदी आँखों तथा अच्छे से तराशे अधरों से अभिव्यक्त होते हैं। उसकी लंबी तथा कोमल उंगलियाँ भारी तथा तेज अस्त्र पकड़े हुए हैं जैसे कि देवता अपने चेहरे पर अपनी शक्ति को धारण कर लेती है। उसके मुकुट से तेज ज्वालाएँ उठ

रही हैं। समतल पाषाण देवी के शरीर तथा हाथों एवं आभूषणों तथा अन्य बातों को अच्छी तरह से तराशने में मदद करता है।

तीर्थंकर की एक छोटी-सी प्रतिमा देवी के मुकुट पर मिलती है जो यह साबित करता है कि वह किसी एक तीर्थंकर की शासन देवता है। इस यक्षी के अन्य लक्षण हमें उसको पहचानने में मदद करते हैं। उसके तीन लक्षण एकदम उभरकर आते हैं। उसके मुकुट के एक तरफ से ज्वालाएँ उठती हैं। दिगंबर जैन पंथ के साहित्यानुसार देवी यक्षी के आठ हाथों के अन्य वस्तुएँ तथा उसका वाहन संभवतः भैंस, जो सभी ज्वालामालिनी से जुड़े लक्षण हैं, जो कि चंद्रप्रभा तीर्थंकर की यक्षी थी।

शिल्पगत वैशिष्ट्य तथा ज्वालामलिनी तथा श्याम की शिल्पाकृतियों की विस्तार से चर्चा करते हुए श्रेटर ने उनको पूर्वी चालुक्यों के काल की माना है, यक्ष (श्याम) तथा यक्षी (ज्वाला) के शिल्प चालुक्य युग के हैं। यक्षी के शिल्प का लचीलापन तथा उसकी नाजूक देह हमें मेगुडी मंदिर में स्थित अंबिका की प्रतिमा की याद दिलाता है। आभूषणों का उचित उपयोग, उसके गोल वक्ष, पतली कमर आदि इस कला की खास विशेषता है। इन प्रतिमाओं के गोल कंगन तथा पायल उन शिल्पाकृतियों के समान हैं जो कि लाड-खान के स्तम्भों में खुदवायी गई हैं। यक्षी का यज्ञोपवित भी नौ नंबर के मंदिर की छत पर पाये जाने वाली ब्रह्मा की प्रतिमा के समान है। लेकिन इससे भी अधिक साम्य हमें यक्षों की प्रतिमाओं में प्राप्त होता है खासकर आसन, योगपट्ट, तथा बादामी की गुफाओं के अंतरालों में पाये जाने वाले यक्षों के लघुशिल्पों में यह साम्य विशेषकर दृष्टिगोचर होता है। ये सार-तथ्य यही सिद्ध करते हैं कि यह दो शिल्प पूर्वी चालुक्य काल के शिल्पकारों के हैं। हो सकता है कि वे गुफाओं तथा मेगुडी मंदिरों से कुछ दशकों के बाद के हो किंतु वे आठवीं सदी के बाद की नहीं हो सकती। (श्रेटर 320) ज्वाला उभरे हुए स्तम्भाधार पर लगभग अंबिका की प्रतिमा के समान अपना बायां पैर लटकाए बैठी हैं। किंतु उसने अपना दाहिना पैर स्तम्भाधार पर रखा है अंबिका की तरह उन्होंने उसे सीधी नहीं रखा है। खैर, लटकता हुआ पैर तत्कालीन शिल्प शैली रही होगी।

पद्मावतीदेवी

एक अन्य शासन देवी पद्मावती देवी के शिल्प का विचार अन्य समान शिल्पों

के प्रकाश में करना चाहिए। चालुक्य युग के शिल्पकारों ने अपने विषय-वस्तु को उत्कृष्ट समानुपातिकता तथा लालित्य प्रदर्शित करने में विजय पायी है। उन शिल्पों का लचीलापन इतना सुंदर है कि वे पूरी रचना को एक संगीतात्मकता प्रदान करता है। पार्श्व मूलनायक का शिल्प जो बहुत ही सुंदरता के साथ खड़ा किया गया है उसमें एक तरह की सादगी तथा चारूता नज़र ती है। अतः यह उपलब्धि प्रशंसा से भी परे है।

अंबिका की प्रतिष्ठा के समानांतर अन्य दो शासन देवता पद्मावती तथा ज्वालामालिनी को भी उच्च पद पर आसनस्थ किया गया। इस काल में उन्होंने लोगों से प्रशंसा अर्जित की। पद्मावती का यह महत्व गुंडनापुर (बनवासी) में हाल में किए गए उत्खनन शिल्पाकृतियों तथा प्रतिमाओं में प्रतिबिंबित होता है।

जैनतर साहित्य में देवी पद्मा (पद्मिनी) से सब परिचित हैं। पद्मावती यह नाम भी बिल्कुल जैन नाम है। पारंपरिक साहित्य में वह अद्वितीय स्थान ग्रहण करती हैं।

पद्मावती पंथ की विशद तथा ऐतिहासिक रूप से चर्चा करते समय पी. बी. देसाई लिखते हैं कि, 'कहानी के अनुसार, श्री वेंकटेश, तिरुपति के देवता, ने पद्मावती से विवाह किया। जिसका वर्णन भविष्योत्तर तथा स्कन्धपुराण में किया गया है। यह भी ध्यान देने की बात है कि देवताओं के वंश ब्राह्मण परंपरा में भी पद्मावती का उल्लेख नहीं है। अतः यह कहना अतर्कपूर्ण नहीं होगा कि जैन देवता पद्मावती ने ब्राह्मण धर्म के नेताओं को अपने काबू में आने को किया।' (देसाई पी. बी. 1957-72) पद्मावती सांतरों, गंगो तथा आदिकदंबों का इष्टदेवी थी जो समृद्धि, संपन्नता तथा कल्याणकारी देवी के रूप में स्वीकारा गया था। अभिष्ट वर प्रदायीनी कहकर उसका वर्णन किया जाता था। कोण्णूर के मध्यकालीन पुरालेख ऐहोळे के व्यापारियों का वर्णन इस प्रकार करते हैं, सत्य राधेयस शौचं गांगेयस तथा 'श्री पद्मावती देवी वरप्रसादस । दिसचस्य बात यह है कि ऐहोळे का व्यापारी वर्ग पद्मावती को अपनी ईष्टदेवता मानते हैं न कि अंबिका को।'

'अपराजित पृच्छा' में पद्मावती देवी को 'कुक्कुटसर्प' कहा गया है। रूपमंडन उसका परिचय 'कुक्कुटोरगस्ता' से करते हैं। अचारादिनकर में उसे कुक्कुटसर्प पर बैठी देवी कहा गया है। त्रिशष्टि-शलाका-पुरुष-चरित में कुक्कुटसर्प को उसका वाहन बताते हैं। अन्य जगहों पर उसे कुक्कुटसर्प तथा नाग उसके पद्मावित के चिह्न के रूप में स्वीकारे गए हैं। ध्यान में रखने की बात यह है कि होम्बुज क्षेत्र के

पार्श्व के शिल्प का कुक्कुटसर्प का चीह अप्रतिम है और संभवतः अपनी तरह का एक मात्र उदाहरण है। (नागराजय्या, हंप : जिन पार्श्व मंदिर: 1990:50).

बादामी तथा ऐहोळे की गुफाओं में पद्मावती को जिन पार्श्व के दाहिने बाजु में छत्र पकड़े हुए दिखाए जाने की प्रथा, को बाद में संभवतः निकाल दिया गया हो क्योंकि उसे जिन की बायीं तरफ दिखाया जाने लगा।

पद्मावती अथवा अन्य नागरानियाँ को, आधे मनुष्य तथा आधे सर्प के शरीर में चित्रित करने की पद्धति, चालुक्यों से चलती आयी है। प्रिन्स ऑफ वेल्स के म्युजियम (मुंबई) में पार्श्व, की कांस्य प्रतिमा की बगल में (8वीं सदी) धरणेंद्र तथा पद्मावती को अर्ध मनुष्य तथा अर्ध सर्प शरीर में हाथ जोड़े दिखाया गया है।

कई बार प्रार्थना मंदिरो के पुरातत्वीय लक्षण हमेशा विश्वासों के अनुसार नहीं जाते, किंतु काल तथा जिस प्रदेश में वह मंदिर बनाया गया है, के अनुसार होते हैं।

पुरातत्वीय साक्ष्य यह बताते हैं कि छठी सदी के प्रारंभ से पद्मावती दृश्यमान होने लगी। कर्नाटक में सबसे प्राचीन ज्ञात प्रदर्शन ऐहोळे तथा बादामी की गुफाओं में प्राप्त होते हैं किंतु दोनों शिल्प शिल्पाकृतियाँ हैं। तथापि शिल्पाकृतियों की मुद्राएँ तथा भंगिमाओं की अभिजात चारुता को परवर्ती आने वाले शिल्पकारों तथा चित्रकारों को चुना। तो भी पद्मावती की स्वतंत्र प्रतिमाएँ इस काल में विद्यमान नहीं है, सिवा गुंडापुर की छिन्न भिन्न मुखवाले शिल्प। इतना कहना ठीक होगा कि शिल्प में अत्यंत सलीकेवार शिल्पगत तत्व लाए गए हैं। कर्नाटक तथा दक्षिण में पद्मावती पंथ की वृद्धि के स्रोत इन गुफाओं के शिल्पों में हैं।

पद्मावती को पार्श्व के दाहिने पक्ष में दिखाया गया है। किंतु शासनदेवियाँ जो कि जिन के दाहिने बगल में दिखाया गया वह आम नहीं है। इस पुस्तक के लेखक ने ई. 1999 में मुळगुंद जिन मंदिर में ई.स. 902 का एक अद्वितीय शिल्प खोजा। यह लालित्यपूर्ण शिल्प अत्यंत सुंदरता से तराशा गया है। जिसे पीछे की ओर संस्कृत पुरालेख है। संक्षेप में, दोनों तरफ से यह शिल्प अतिसुंदर है। एक ओर, एकदम प्रारंभ में, पुरालेख की शुरुवात में, शिल्प के ऊपरी भाग में, चैत्यालय पंथ का शिल्प है। चार खंभों के अंदर तीन कक्ष है। दाहिनी तरफ गाय और बछड़े की शिल्पाकृति है, मध्य भाग में पीठ पर पद्मासन में बैठे जिन की शिल्पाकृति है, जिसके ऊपर त्रिछत्र तथा चामरधारी हैं। तथा बायीं तरफ आम्रवृक्ष के नीचे अंबिका ललितासन मुद्रा में बैठी हैं, जिसने अपने दाहिने हाथ में आम का फल पकड़े रखा

है तो बाया हाथ वरदहस्त है। सिंह, उसका वाहन, उसके चरणों में है, और उसके पुत्र उसकी बायीं तरफ दिखायी पड़ते हैं। (नागराजय्य हंप.: 2000:243) यह उल्लेखनीय है कि यही एक मात्र पाषाण है जहाँ अंबिका तथा पद्मावती एक दुसरे के पीछे दिखायी देती हैं। अर्थात् पाषाण के एक तरफ पद्मावती तो दूसरी तरफ अंबिका है।

विद्यमान जैन शिल्पों में ऋषभ तीर्थंकर का शिल्प, जो अर्ध पद्मासन में ध्यान में लीन है और ललितासन में बैठी पद्मावती का शिल्प, उल्लेखनीय है, जो हाल ही में गुंडनापुर के उत्खनन में पाये गए। आदिनाथ (ऋषभ) जिन की प्रतिमा सामान्य शब्दों में चालुक्य युग की स्वतंत्र प्रतिमाओं में पहली स्वतंत्र शिल्प प्रतिमा है, जिसे मंगलेश्वर ने बनवाया था। अधिकतर कलात्मक प्रदर्शन में इस प्रतिमा की कोई बराबरी नहीं कर सकता। कंधो तक फैले घुंघराले केश, दीर्घ कान, ध्यानमग्न आँखें, नाभी, लंबी तीक्ष्ण नाक, अधरों पर स्थिर स्मित, विशाल छाती, गोल चेहरा, दृढ़ तथा महापुरुषों के लक्षणों से युक्त स्थिर शरीर यह प्रतिमा एकदम उत्कृष्ट बनी है। आदिनाथ की यह प्रतिमा, जिसमें आध्यात्मिक गंध भरी है, मूलनायक के रूप में मंदिर में प्रतिष्ठापित की गई है। आदिनाथ तीर्थंकर की ध्यानमग्न सिर, शरीर के साथ सानुपातिक तथा सामंजस्यपूर्ण है। कुल वजन का सही रूप में सामंजस्य। यह चालुक्य शिल्पकला का सुंदर उदाहरण है। यह प्रतिमा बहुत ही कुशलता से बनाई गई है। इस प्रकार इस अत्यंत सुंदर शिल्प की ऐतिहासिक विशेषता को किसी अतिशयोक्ति की आवश्यकता नहीं है।

पद्मावती की भग्न प्रतिमा के बारे में अगर कहना हो तो उसकी प्राचीनता के बारे में विश्वसनीय जानकारी का अभाव है। पद्मावती का शिल्प तत्कालीन शासनदेवता के शिल्पों से कई बातों में साम्य रखता है। ललितासन में बैठी, तथा धनुष्याकार परिकरों के फ्रेम में जड़ी हुई पद्मावती की प्रतिमा रत्नजटित कंठहार, कुंडल, स्कंधाभूषण तथा मुकुट आदि से सुशोभित है। उसके पीछे जो एक प्रभामंडल है उसकी किनारों में रत्न जडे हैं, यह एक दुर्लभ लक्षण है। एक मुड़ा हुआ रस्सी जैसा मोटा धागा जो कि उसके वक्षों के बीच से होकर उसकी जंघाओं तक जाता है, वह एक प्रकार का आभूषण ही होगा। इस देवता ने अपने दाहिने हाथ में अंकुश धारण किया है। स्तम्भाधार, प्रभावलय आदि नष्टप्राय है तो मुख तथा अन्य चीजें विरूपित हो गई हैं। ललितासन में बैठी देवता का बायां पैर स्तम्भाधार पर नीचे की ओर है। इस काल के तीन यक्षियों में यह एक दुर्लभ बात है। शैलीगत

आधार पर पद्मावती की यह प्रतिमा आठवीं सदी के मध्य की होगी। क्रमानुसार यह शिल्प ज्वालामालिनी तथा अंबिका का समकालीन शिल्प हो सकता है। विद्यमान पद्मावती की प्रतिमा यह निश्चित करती है कि पद्मालय, जिसका उल्लेख कदंब-पुरालेख में हुआ है, जैन देवता का मंदिर था।

प्रत्येक राजा का जीवन तथा व्यक्तित्व जैन धर्म के प्रसार के लिए समर्पित था। कई महान कृतियाँ तत्कालीन जैन धर्म का महत्व समझाती हैं। श्रीवत्स के प्रतीक वाली तीर्थकरों की स्थानांतरित तीन वैशिष्ट्यपूर्ण प्रतिमाएँ जिन्हें महापुरूष के लक्षण के रूप में विशेष रूप से विशाल छाती पर तराशा गया है। आठवीं सदी की हैं प्रतिमाएँ विशाल राज्य के कोने कोने में जैन धर्म का प्रभाव किस प्रकार व्याप्त था इसे बताने के लिए ही जैसे सुरक्षित रही और वे प्रतिमाएँ हैं....

1. कळवप्पु की कायोत्सर्ग मुद्रा में जिन का प्रतिमा अब बेंगळूरु के सरकारी वस्तुसंग्रहालय में है। दक्षिण कर्नाटक में श्रीवत्स का यह एक उल्लेखनीय तथा दुर्लभ उदाहरण है। जबकि तमिलनाडु में यह पुर्णतः उल्लेख नहीं हुआ हो ऐसा नहीं है। यह बात ध्यान में रखनी होगी कि यह प्रतिमा श्रीवत्स चिह्न के थोड़े से ऊपर की ओर भग्न हुई है। और बड़ा सा सिर बाद में जोड़ा गया है ताकि प्रतिमा की सुंदरता बनी रहे।
2. गुंटूर जिले के बापटळ की कायोत्सर्ग मुद्रावाली तीर्थकर की प्रतिमा हैदराबाद के वस्तुसंग्रहालय में मौजूद है।
3. ध्यानमुद्रा में बैठे तीर्थकर की प्रतिमा भालकी शहर के दक्षिण पश्चिमी भाग के मारुति के (हनुमान जगत) के पास है। विशाल छाती पर का चिह्न यह अर्थ देता है कि उच्च ज्ञान जिन के हृदय से प्राप्त होता है। कुछ मथुरा से लाये गए आयागपट, श्रद्धांजलि की सिल्लियों पर श्रीवत्स का चिह्न है। यह स्मरण रखना होगा कि ऐसे चिह्न भारत के बौद्ध तथा जैन धर्म समेत हर धर्म में, समान रूप से मिलते हैं। सील- मुहर उत्तर भारत में दूसरी सदी (कुशाणों का काल) से प्रमुखतः प्राप्त होते हैं। दक्षिण के दिगंबरों में यह परंपरा इतनी लोकप्रिय नहीं हुई।

भाल्कि - एक प्राचीन स्थान

भाल्कि में स्थित आसनस्थ जिन की प्रतिमा (1.24 मीटर लंबी तथा 0.85 चौड़ी)

अच्छे से पॉलिश की गई है किंतु बहुत अधिक भग्न है। किंतु दिलचस्प बात यह है कि एक दूसरे के ऊपर ध्यान मुद्रा में रखे हाथ अभी भी सुरक्षित है। दाहिनी हथेली पर कमल का फूल दिखाया गया है। मात्र मुड़े हुए पैर भग्न नहीं हुए हैं। लंबा मुख तथा अर्धनिर्मिलित नेत्र यही दर्शाते हैं कि जिन गहन तपस्या में लीन है। भौंहे, सिर के घुंघराले बाल, पतली कमर, विशाल छाती आदि बहुत ही करीने से दर्शाए गए हैं। यह प्रतिमा विद्यमान जिन मंदिरों के मूलनायक की रही होगी। उक्त प्रतिमा वातापी चालुक्यों के काल में बनवायी गई होगी।

कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित जिन की दूसरी प्रतिमा (56 सें. मी. लंबी तथा 42 सें. मी. चौड़ी) सिर रहित है और उसके अवशेष तथा भग्न सिर नहीं है। सिर के अलावा सिंहासन से युक्त प्रतिमा सुरक्षित है जो महावीर को पहचान देती है। महावीर के साथ नीचे चामरधारी हैं जो अक्सर जिनशासनदेवता या यक्ष तथा यक्षी को समर्पित होते हैं। शैलीगत तौर पर यह प्रतिमा राष्ट्रकूटों के काल लगभग आठवीं सदी की है।

भालकी से प्राप्त अंबिका की तीसरी प्रतिमा, जिसका मुख थोड़ा सा दाहिने ओर झुका है, एक अद्वितीय प्रतिमा है जिसे एक अच्छे तथा विशेष उपचार की आवश्यकता है। इस प्रतिमा का सबसे बड़ा लक्षण उसका वैशिष्ट्यपूर्ण तथा दुर्लभ होना है। इसके शिल्पगत लक्षणों पर विचार करना जरूरी है। दो हाथोंवाली चार फूट लंबी तथा दो फूट चौड़ी अंबिका की हंसती हुई प्रतिमा की बगल में दो परिचारक हैं, जो मकरपट्टी पर विराजमान हैं, और अंबिका भद्र पीठ पर विराजमान हैं। उसके दाहिने हाथ में आम्रलुंबी है और बायें हाथ में फल है। उसका पुत्र शुभांकर उसकी बायीं ओर नग्नावस्था में है तो दाहिनि ओर प्रभांकर सिंह पर सवार है, जिसे स्तम्भाधार के कोने में दर्शाया गया है। सिंह पर सवार अंबिका को जलती आँखों तथा बाहर लटकती जीभ में दिखाया गया है। इस प्रकार अंबिका, रचनात्मक तथा पारंपरिक लिखित आदेश के साथ सामंजस्य करती है। (infra)

“आसनस्थ जिन की लघु शिल्पाकृति अत्यंत नाजुक तथा करीने से सजाए हुए कर्नाड मुकुट के मध्य प्रतिष्ठापित की गई है। अंबिका कंठहार, स्तनहार या सुवर्ण वैकक्षक, वक्षों के मध्य में मुक्ताहार, गले में मंगलमाला, रत्नजडित मेखला, बाजुबंद, कर्णकुंडल, नूपुर, कालकडग, अंगुठियाँ, चुडियाँ, आदि रत्नोंवाले आभूषणों से सुशोभित है। पुष्ट वक्ष, पतली कमर देवता की भव्यता को और अधिक बढ़ाते हैं। उसका लंबे पवित्र मुख पर आनंदमयता छायी है। उसकी लंबी तथा सुंदर नाक टूटी

सी है। उसकी विशाल आँखें, धनुष्याकार भौंहें, मृदु कपोल, सुंदर-सा जबड़ा, तथा कोमल अधर आदि सुंदरता से तराशे गए हैं।” (नागराज्जय हंप 2004-54-55)

“अंबिका के मुकुट के मध्य छोटे आकार के जिन की आसनस्थ प्रतिमा के अलावा एक और थोड़े से बड़े आकार वाले पद्मासन वाले जिन की प्रतिमा अंबिका के सिर के ऊपर छत्र के समान फैले, आम्रवृक्ष की शाखाओं में प्रतिष्ठापित है, जो बड़ा ही मनमोहित करने वाला दृश्य है। मध्य में बैठा जिन अर्हत पार्श्व है हालाँकि उसके सिर के ऊपर का सर्प छत्र धूँधला है। गंधर्व, नगाडे वाले तथा आम्र की शाखाओं को बहुत कठिनाई से पहचाना जा सकता है। उपर्युक्त विवरण देवगढ में स्थित अंबिका की प्रतिमा के साथ थोड़ी बहुत मिलती जुलती है, यह इस बात को दर्शाता है कि जो देवता आम्रवृक्ष के नीचे बैठी है उसने परम देवता के पद को प्राप्त किया है और उसने जिन शासन देवता के पद को प्राप्त किया है।”

(supra)

यक्ष?यक्षी का परिहरों के रूप में तीर्थकरों के साथ संबंध की पहल तथा प्रचलन चर्चाधीन काल में हुआ। जिन शासनदेवता की प्रतिमाओं को समर्पित करने की प्रथा की पहल इस युग के दौरान ही प्रारंभ हुई। ऐहोळे बादामी तथा पट्टदकल्ल जिन वास्तुकला के साँचे के रूप में बदला जहाँ से और भी अधिक प्रगतिशील बनावटों की शुरुवात हुई। चालुक्य जिन धर्म के हितैषी थे और इस युग की कई सुंदर जैन प्रतिमाएँ तथा शिल्प इसकी साक्ष्य है।

- विस्तार से तराशे तथा काटे गवाक्ष में एक पत्तों से अलंकृत बौनी सी प्रतिमा।
- कथावस्तु का सुंदरता के साथ वर्णन संभवतः बहुत ही अच्छा है।
- पार्श्व तथा बाहुबलि की प्राचीन परंपरा तथा विषयवस्तु का अत्यंत सशक्त रूप से दर्शाया गया है।
- चालुक्यों के सबसे महत्वपूर्ण तथा दिलचस्प शिल्प तथा नक्काशी यक्षों, अंबिका, ज्वाला, श्याम, सर्वाह, धरणेंद्र तथा पद्मावती के हैं।
- निशंकतः इस काल के श्रेष्ठ शिल्प जैन गुफाओं के हैं। विशेषकर ऐहोळे की गुफाएँ इतनी विशाल हैं कि अन्य तीन की कलात्मकता तथा सुंदरता से स्पर्धा करती सी नज़र आती हैं।
- दरबारी कवि रविकीर्ति की इष्टदेवता अंबिका की प्रतिमा भारत की सबसे सुंदर प्रतिमाओं में से एक है, जिसकी उत्कृष्ट कारिगिरी के लिए चालुक्य शिल्पकारों

की प्रशंसा करनी चाहिए। भले ही थोड़ी किंतु काफी भग्न तथा विरुपित है, किंतु फिर भी इस प्रतिमा के उत्कृष्ट सौंदर्य का कोई सानी नहीं है। जो सोने में तोलने योग्य है।

- ऐहोळे की जैन गुफाओं की छत पर जो शिल्पगत रचना है वह प्राचीन आयागपट (भक्तिफलक) का ही विस्तार है। यह शिलापट मथुरा के कंकलि टीले से लाया गया जो कि कुशाणों के युग का है जिस पर मच्छ तथा स्वस्तिक के मंगल चिह्न भी हैं।
- उत्तर, पूर्व, तथा दक्षिण भारत में हमेशा पार्श्व को सात फनों वाले सर्पछत्र में दिखाया गया है। दक्षिण भारत में, विशेषकर कर्नाटक तथा तमिलनाडु में पार्श्व की शिल्पाकृतियाँ तथा स्वतंत्र प्रतिमाएँ पाँच फनों वाले छत्र में दिखाई पड़ती हैं।
- श्रवण बेलगोल के भंडार बसदी में प्रतिष्ठापित 24वें तीर्थंकरों की पंक्ति में सुपार्श्वनाथ को स्वस्तिक तथा पाँच फनों वाले छत्र में दर्शाया गया है।
- गुंडडनापुर के उत्खनन में पायी, छठी सदी के उत्तरार्ध की ऋषभ की प्रतिमा एक श्रेष्ठ एवं अद्वितीय प्रतिमा है, जिसकी कोई बराबरी नहीं कर सकता।

अध्याय आठ

शिला निर्मित जिनमंदिर

चालुक्यों के उत्तराधिकारी आदिकदंबों तथा पूर्वी गंगो के काल में चाहे लगभग पचास मंदिर बनवाए गए थे फिर भी पत्थर से मंदिरों को बनवाने की कला अभी भी विकसित तथा स्थिरता की दहलीज पर थी। पूर्णविकसित मंदिर शिल्प को पूर्ण करने की कुशलता का वैशिष्ट्य, जिसे बार बार तोडा और बनवाया गया, पूर्वी चालुक्यों को जाता है।

मेगुडी के जिनेन्द्र भवन को सबसे प्राचीन विद्यमान शिल्पगत मंदिर कहा जाता है। (635) राज्य के अन्य स्थानों में इससे भी पूर्व की बस्तियाँ हैं। इनमें पुलिगेरे की शंख जिनालय तथा परलूरु का शांतिश्वर चैतालय विशेष प्रसिद्ध है। क्रमानुसार शांतिश्वर चैतालय शंखबसदी के काफी नज़दिक हो सकता था। हाल ही में पट्टदकल्ल में किए गए उत्खनन में एक और चालुक्य मंदिर प्रकाश में आया है, जो एक जिनालय है, जिसका समय ई. स. 550 है।

आदिकदंबों ने कई जैन मंदिरों का निर्माण किया और उन्हीं अच्छी तरह से वैभवसंपन्न भी बनाया। किंतु, 24 तीर्थंकरों में से ऋषभ के नाम का उल्लेख राजा काकुस्थवर्म को छोड़कर अन्य किसी भी

आदिकदंबों के राजाओं ने विशेषरूप से नहीं किया है। बादामी चालुक्यों का ही वह युग था जहाँ से अर्हत महावीर, पार्श्व तथा बाहुबलि के शिल्प या तो शिल्पाकृतियों में या फिर स्वतंत्र शिल्पों में पाये गए, जो मंदिरों के गर्भगृहों में प्रतिष्ठित किए गए थे।

उक्त युग में जहाँ तक राष्ट्रकूटों तथा चालुक्यों का ताल्लुख है, यह कहा जा सकता है कि मंदिर शिल्पकला को निरूपित करने में इनकी संरचनागत परंपरा की सहभागिता रही होगी। मंदिर निर्माण की कला को बाद में काफी प्रोत्साहन मिला और कई जगहों पर जैन मंदिर निर्मित होने लगे। चालुक्य धार्मिक कला के प्रमुख संरक्षक थे। कर्नाटक में पूर्ण विकसित जैन कला तथा शिल्पकला के दर्शन इसी में होते हैं। वैभवसम्पन्न तथा अप्रतिम जिनालयों का निर्माण हुआ तथा जिनों की आँख भरने वाली प्रतिमाएँ तथा अन्य अधिनस्थ देवताओं की प्रतिमाएँ तराशी गईं। कुछ महत्वपूर्ण जैन मंदिरों पर विस्तृत चर्चा की आवश्यकता है।

सातवीं सदी से आठवीं सदी तक प्रसिद्ध तथा महत्वपूर्ण जैन संस्थापन के रूप में फूला फूला। आठवीं सदी का शब्द की व्युत्पत्ति उसके प्राचीन नाम पांडियूर से हुई है, जिसका एक अन्य नाम गांगी पांडियूर भी था। भाषायी परिवर्तन के कारण 'प' का 'ह' हुआ और 'पांडियूर', 'हाडियूर' बना और बाद में 'हाडियूर' का 'आडूर' हुआ। आडूर में स्थित दो जैन मंदिर, एक जो शहर में बनवाया गया और दूसरा, जो गाँव के बाहर, दोनों कीर्तिवर्म द्वितीय के शासनकाल के हैं। आडूर (750) का जुड़ा हुआ शिलापट्ट पर आठवीं सदी के दो अभिलेख हैं जो जिनालय तथा दानशाला के कबारे में बताते हैं। धर्मगामुंड ने उसकी सुरक्षा तथा वृद्धि के लिए पच्चीस निवर्तन की ज़मीन दान में दे दी थी।

शिलालेख ने परलूरु गण के वंश तथा चेदिया प्रमुख के तीन नामों को उपलब्ध कराया है। विनयनंदी, ग्राम प्रमुख धर्मगामुंड के काल में आडूर तथा परलूरु क्षेत्र का धर्मगुरु था।

रविशक्ति ने अपने अधिपति मंगलेश (तस्यानुशासनेन) के कहने पर सामंतों के अधिकार में रहने वाले किरुव केरे ग्राम में स्वामी शांतिनाथ को पचास निवर्तन की उपजाऊ जमीन दान में दी थी। परलूरु संघ के श्रीनंदी के शिष्य अभयनंदी ने यह दान ग्रहण किया था।

शांतिवर्म के पुत्र मृगेशवर्मा (455-80) के कार्यकाल के तीसरे वर्ष (458) के देवगिरि शिलालेखपर बृहत परलूरु के जिनालय की मरम्मत तथा पूजा-प्रार्थना हेतु

जमीन दान का उल्लेख किया गया है साथ ही अर्हत की प्रतिमा को फूलों से आभूषित करने के लिए भी जमीन दान देने का उल्लेख किया गया है। इस दान में चालीस निवर्तन की काली माटी की जमीन, चार निवर्तन की खेत तथा जिनालय के बाहर एक निवर्तन जमीन का उल्लेख दर्ज है। यह शिलालेख एक पवित्र भोजक दामकीर्ति द्वारा लिखा गया है। परलूरु संघ के साथ जो बहुत विशेषण जोड़ा गया है वह यही दर्शाता है कि उस समय इस स्थान को बहुताधिक महानता प्राप्त थी। उनके उत्तराधिकारी होने के कारण चालुक्य ने प्रेरित होकर परलूरु संघ को निरंतर दान देना जारी रखा। परलूरु संघ की यह भव्य संस्थापना राजधानी बादामी से काफी दूर नहीं है।

श्रीपाल ने अपने दादा धर्म गामुंड से बनवाये जिनेंद्र भवन के परिसर में ही शिलापट्ट का अभिषेक किया था। आडूर के परलूरु चैत्यालय के प्रमुख अधिकारी प्रभाचंद्र गुरावर दानी थे। इस जगह का प्राचीन नाम गागी पांडियूर था। सिंदरस का आडूर पर शासन था। ग्रामाधिकारियों तथा शेरिफों ने आठ एकड़ खेत जमीन दान में दी थी। चैत्यालय के प्रमुख प्रभाचंद्र को गुरावर कहा जाता था। जैन आचार्यों को अक्सर ऋषि, श्रमण, या सवण कहा जाता था, किंतु कभी कभी गोरव शब्द को भी नामों के साथ जोड़ दिया जाता था, जैसे मोनिगोरव, जो मोनिभट्टार के समान ही रहता था। विद्यानंद, वासुदेवगुरु तथा प्रभाचंद्र परलूरु गणग्रणी थे।

विनयनंदि ने तीर्थंकर के प्रथम मुनि इंद्रभूति की तरह ही स्वयं को बनाया। उसका शिष्य वासुदेवनंदी धर्मपिता बना ओर अपने अगाध ज्ञान के बल पर शिक्षकों का शिक्षक के रूप में आचरण करने लगा। मुनि वासुदेव का शिष्य प्रभाचंद्र-गुरावर परलूरु चेदिया का उत्तराधिकारी बना। धर्मगुरु प्रभाचंद्र, विनयनंदि का प्रशिष्य, को राज-पुजिता बनने का सम्मान मिला, तदनुसार उस समय का शासक राजा कीर्तिवर्म द्वितीय था। प्रभाचंद्र का अंतेवासी शिष्य श्रीपाल, जो कि धर्मगामुंड का प्रपौत्र था, स्थानीय नेताओं से मिलकर, कर्मागालूरु के पश्चिम की आठ एकड़ खेत जमीन (टैंक के नीचे की जमीन), जिनेंद्र भवन की पूजा प्रार्थना हेतु दान में दी थी। प्रभाचंद्र इस दान के ग्राही थे। आठवीं सदी के रिकार्ड वर्धमान का आह्वान करते हैं, संभव है कि धर्मगामुंड द्वारा बनवाया गया मंदिर महावीर वर्धमान को समर्पित किया गया हो, तो इस आलोक में, महावीर का जिनालय सबसे प्राचीन मंदिर प्राप्त होने का विशेष श्रेय आडूर को जाता है।

हाल ही में, जैनों से संबंधित सात पुरालेख एम. बी. नेगिनहाळ द्वारा खोजे गए, जो दुबारा इस बात की पुष्टि करते हैं कि सातवीं सदी से लेकर 14 वीं सदी तक आडूर पर जैनों का विशेष प्रभाव रहा है। धर्मगामुंड के वंश के बल्लगावुंड, विक्रमगावुंड, केशवगावुंड, हरियमगावुंड आदि ने आडूर में जैनधर्म का दीप निरंतर जलाए रखने का काम किया है। इसी तरह श्रीनंदी भट्टारक, माधवचंद्रदेव, कुमारसेन मुनि ने मुनिपरंपरा की अखंड श्रृंखला बनायी। बार बार आनेवाले ये पुरालेखिय साक्ष्य आडूर में जैन आश्रमों के अस्तित्व पर जोर देते हैं।

ऐहोळे-शिल्पकारों का स्वर्ग

द्विभुज अंबिका, अष्टभुज ज्वालामालिनी तथा चतुर्भुज श्यामयक्ष की स्वतंत्र प्राचीन विद्यमान प्रतिमाएँ ऐहोळे की शिल्पकला के उल्लेखनीय उदाहरण हैं।

प्रमुख व्यक्तियों में जिन्होंने चालुक्य शासनकाल की भव्य दिव्यता की वृद्धि की है उन कुशल शिल्पकारों का विशेष उल्लेख करना बहुत जरूरी है। इस युग के कुछ उत्कृष्ट तथा प्रतिभाशाली शिल्पकार जिन्होंने अमूल्य स्मारकों का निर्माण किया और इन सुंदर शहरों में स्वर्ग तथा धरती का मानों संगम ही करा दिया।

ऐहोळे, बादामी, तथा पट्टदकल्ल यह तीन शहर चालुक्य शिल्पकला की शैली के उदाहरण बन गए और मानो ऐहोळे जैसे मंदिरों की अलौकिक राजधानी के रूप में ही खिला। विद्यमान मंदिरों ने तीन संख्या से भी अधिक कर दिया है। यह कला तथा शिल्पकला में उच्च शिक्षा का केंद्र बना। इस केंद्र में गंधर्व कला, शिल्प कला तथा इसी तरह के अन्य कलाओं का अध्यापन किया जाता था। पुरालेखों में शिल्पकला के प्रतिभाशाली आचार्यों का उल्लेख प्रमुख रूप से हुआ है। शिल्पकार अनिवृताचारी गुंड को कला तथा शिल्पकला के संघ द्वारा त्रिभुवनाचारी के बिरुद से सम्मानित किया गया था।

सर्वसिद्धी आचार्य, जो संभवतः अपने काल का महत्वपूर्ण कलाकार था, का विशेष उल्लेख बहुत आवश्यक है। पट्टदकल के भव्य मंदिर लोकेश्वर तथा त्रिलोकेश्वर का वह प्रमुख शिल्पकार था। पुरालेखों ने उसके द्वारा बनवाये अद्वितीय शहरों तथा स्थानों की रचना करने तथा सिंहासन आदि बनवाने के लिए साथ ही राजाओं के शाही फर्नीचर आदि बनवाने की खातिर प्रशंसा की है। आचार्य सर्वसिद्धी को 'रूप वास्तु पितामह', वास्तु प्रासादयान अशन शयन मणिमुकुट रत्न चुडामणि की उपाधि से सम्मानित किया गया था। उनके कई शिष्य बहुत ही प्रवीण

तथा प्रतिभाशाली थे और उनको भी गुफालेखों रिकार्डों में स्थान पाने का सम्मान मिला है। उनके शिष्य रेवडी वज्जर को तेंकण दिशेय सूत्रधारी उपाधि से गौरवान्वित किया गया था। कला का ज्ञान आनुवंशिक था। शिववधन मान, शिवा तथा शुभदेव, पिता पुत्र तथा प्रपौत्र जाने माने नक्काशीकार थे। बलदेव, आर्य, पुल्लप्पन निर्माणदेवन, आर्यमिचि उपाध्याय, एरेंडर गणच, दोणसामी, अय्यसामी, कल्कुट्टे तथा कोट्टमंचि आदि प्रसिद्ध शिल्पकार थे।

नरसोब्ब, अपने युग का एक अन्य सम्मानित छैनिकार (शिल्पकार) जिसकी सारे भारतखंड-जंबुद्वीप में कोई बराबरी नहीं कर सकता था। चालुक्य साम्राज्य कलाकारों, नर्तकों तथा संगीतकारों के लिए भूस्वर्ग सिद्ध हुआ। अचला की गर्जना, एक अद्वितीय कलाकार तथा नर्तक ने अन्य कलाकारों के गर्व को चूर कर दिया। इस युग के सर्जनात्मक कलाकारों का यही वैशिष्ट्य था। इसी युग में चालुक्य शैली तथा शिल्पकला का उद्भव हुआ।

ऐहोळे जैन आबादी का एक प्रमुख व्यापारी शहर के रूप में चमकने लगा। रविकीर्ति ने जैन भवन बनवाने के लिए यही क्षेत्र क्यों चुना क्योंकि वह इसी प्रदेश का निवासी था। रविकीर्ति द्वारा बनवाये गये इस मंदिर के पूर्वी दीवार पर लिखी गई गयी प्रशस्ति तथा शिलापट पर लिखा गया संस्कृत का प्रसिद्ध पद अर्थपूर्ण तथा प्रतीकात्मक है।

ऐहोळे तथा बादामी गुफाओं में पार्श्व तथा बाहुबलि की पवित्र तथा प्रभावी कथा के पहल के साथ ही एक नयी शुरुवात हुई और दक्षिण में एक नयी लोकप्रिय संरचना की प्रवेशिका बनी। यह मात्र चार दिवारों में ही चली नहीं बल्कि उसने छलाँग लगाई। कर्नाटक में हल्लुर के पार्श्वनाथ के मंदिर की बाहरी दीवारों पर यह कथा दोहराई गई है। यह स्थान भौगोलिक अथवा सामान्य रूप से ही क्यों न हो ऐहोळे से काफी दूर नहीं है। यह भी ज्ञात कर लिया गया है कि जैन मुनियों के संघ का अनुयायी परलूरु गण हळ्ळूर से संबंधित है।

गुफाओं के वैशिष्ट्य का सार निम्नलिखित है

1. ऐहोळे तथा बादामी की गुफाएँ कथा, शैली तथा उत्खनन के काल में एक दूसरे से बहुत मिलती जुलती हैं। पार्श्व तथा बाहुबलि की चार शिल्पाकृतियाँ, (क्रमशः ऐहोळे तथा बादामी में दो) एकदम से पहचानी जाती हैं और वे

शैलीगत समानता लिए हुए हैं। हालाँकि सूक्ष्म निरीक्षण के बाद कलात्मक प्रदर्शन में छोटी भिन्नताएँ नज़र आती हैं।

2. ऐहोळे में स्थित बाहुबलि की शिल्पाकृति 1.78 मी. लंबी है तो बादामी की शिल्पाकृति 2.30 मी. लंबी है। सौंदर्य की दृष्टि से अगर कहना हो तो बादामी के गुफा में स्थित शिल्पाकृति निश्चित ही अधिक सुंदर है तथा लंबी भी है।
3. जिन पार्श्व का शिल्प तराशनेवाले प्रथम कलाकार वातापी का है।
4. जाहिर है कि जिन की शिल्पाकृतियाँ, प्रतिमाएँ तथा शिल्प पृथक तथा अचल हैं। किंतु पार्श्व, बाहुबलि, शासनदेवता, इंद्र तथा उनके परिवार इसके अपवाद हैं।
5. पार्श्व की दृढ़ता तथा बाहुबलि की स्थिरता एकदम विशुद्ध है। शांत रस को चारूता से दर्शाया गया है।
6. जैन गुफाओं में बाहुबलि की शिल्पाकृति बहुत प्राचीन है। हालाँकि आश्रमों तथा मंदिरों एवं पर्वत के ऊँचे शिखर पर की बाहुबलि कई विद्यमान प्रतिमाएँ परवर्ती हैं। चालुक्य शिल्प का ऐतिहासिक, प्रतिमागत तथा सौंदर्य से परिपूर्ण लावण्य अभी नष्ट नहीं हुआ है।

बादामी की जैन गुफाओं में स्थित महावीर के एक विशाल उभडे शिल्प में महावीर की शासन देवता चार हाथों वाली सिद्धायिका पर भी ध्यान देना जरूरी है। जिसके ऊपरवाले दाहिने हाथ में अंकुश है जिसका हत्था थोड़ा सा टूटा सा है, और बायें हाथ में पाश है। नीचे के दाहिने हाथ को अभय मुद्रा में दर्शाया गया है तो बायें हाथ में मातुलुंग (सीताफल जैसा) फल है। यह भी उल्लेखनीय है कि देवता का वाहन जो कि आसन के नीचे तराशा गया है स्पष्ट नहीं है। हालाँकि इसको पहचानना कठिन है फिर भी एच. डी. संकालिया का मानना है कि यह वाहन हंस का है। किंतु जैन परंपरा तथा शिल्प कला के अनुसार सिद्धायिका देवता सिंहासनवासिनी है। (नागराज्जय्य हंप-यक्ष-यक्षीयाँ-1976-142) इस शिल्प की महत्वपूर्ण विशेषताएँ दो हैं, एक उसके हाथ में पुस्तक का ना होना तथा उसको दो हाथों की बदले चार हाथोंवाली दिखाना, यह भिन्नता लगभग सातवीं सदी के प्रारंभ हुई है।

यू.पी. शाह ने बहुत ही सही निरीक्षण किया है, उनके अनुसार, यह ठाँचा उपलब्ध दिगंबर पाष्य में अज्ञात है, किंतु गुफा के संभावित युग को देखने पर यह ज्ञात होता है कि कर्नाटक में यह एक नयी खोयी जैन परंपरा का प्रतिनिधित्व करती है। इस गुफा की यह तथा अन्य शिल्पाकृतियाँ जैन गुफाओं से कुछ परवर्ती

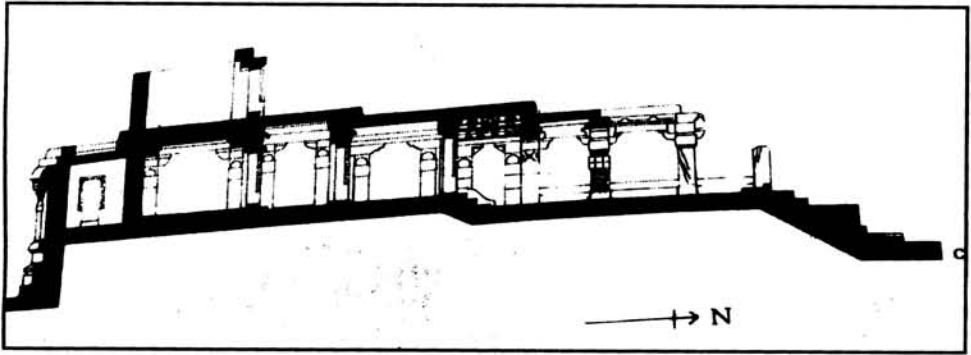
शिल्पाकृतियाँ लगती हैं। आपको इस बात का भी स्मरण होगा कि कन्नडभाषा के अनुसार ध्यान-श्लोक हंस को दो हाथों वाली सिद्धायिका का वाहन मानता है। हंस का वाहन देवी सरस्वती की याद दिलाता है और श्वेतांबर तथा दिगंबर दोनों पंथों में सिंहवासिनी देवी सिद्धायिका को सरस्वती देवी से जुड़े दो या अधिक प्रतीकों से संबंधित दिखाया गया है। इस प्रकार वसुनंदी तथा आशाधर के अनुसार पुस्तक या श्वेतांबर परंपरा में वीणा तथा दिगंबर परंपरा में मलादेवी का मंदिर के ठाँचे का विचार भी जरूरी है। सिंह भी सरस्वती का वाहन है जो ब्राह्मणी परंपरा में वाग्देवी है। सिद्धायिका का वाहन सिंह का होना संभवतः महावीर के चिह्न सिंह ईस से प्रभावित रहा होगा, किंतु अन्य किसी तीर्थंकर की यक्षीनियों के साथ ऐसा नहीं था। (शाह यू.पी. जैन रूप मंडन 1987 : 287) सिद्धायिका की शिल्पाकृति शिल्प सातवीं सदी का न होकर आठवीं सदी के प्रारंभिक दशकों का रहा होगा।

चरंतीमठ अथवा जुडवा जैन मंदिर कल्याण चालुक्य शासनकाल के जमपरय्या तथा जतियक्का के पुत्र केशवय्या शट्टि ने बनवाया था। हळ्ळूरू जिनालय के समान ही सेट्टेव्व जिनालय राष्ट्रकूटों के प्रारंभिक काल में बनवाया गया था। सेट्टेगेव्वा बसदी के पास एक और एकदम सामान्य सा जिनालय दसवीं सदी के प्रारंभ का शिल्प है। अतः ये मंदिर जो जैनों से जुड़े हैं उनकी चर्चा इस पुस्तक में नहीं की गई है।

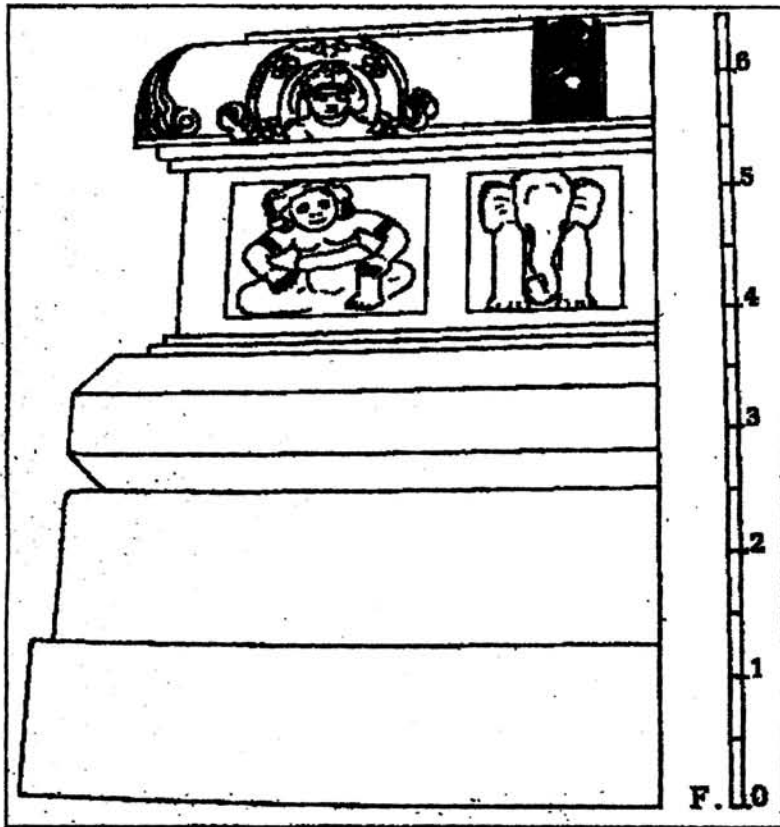
मेगुडी को मुळवळ्ळि, गंगावूर, मच्चनूर तथा वेळमळटिकवाडा ग्राम तथा ऐहोळे के पास की जमीन दान में दी गई थी। मेगुडी शब्द की व्युत्पत्ति उसके दो मंजिला संरचना तथा उसके भौगोलिकता पर आधारित है। कारण यह ऊपर की ओर उठे मैदानी भाग पर होने के कारण तथा वह दो मंजिला मंदिर होने से लोग उसे मेगुडी कहते हैं, अर्थात् पर्वत पर मंदिर तथा ऐसा मंदिर जिसके नीचे एक अन्य मंदिर का होना है। कन्नड शब्द मेगुडी मेल तथा गुडी के योग से बना है। मेल का अर्थ है ऊपर तथा गुडी का अर्थ है मंदिर। अतः मेलगुडी का संक्षिप्त रूप मेगुडी है। तथापि कवि रविकिर्ती ने अपने पुरालेख में इस मंदिर को जिनेंद्र भवन के नाम से संबोधित किया है।

जिनेंद्र भवन (मेगुडी)

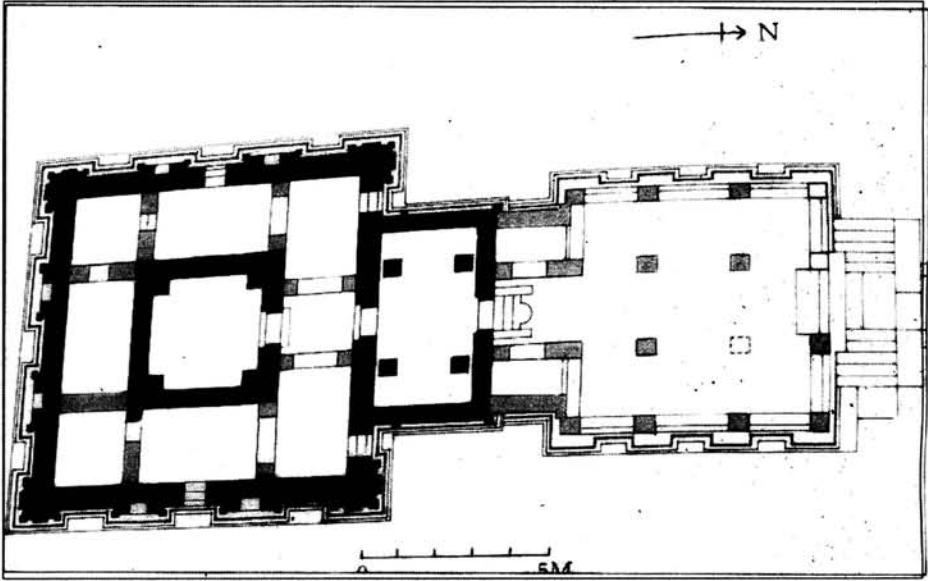
उत्तरीय सांदार अथवा भ्रमंतिका, जिनेंद्र भवन समान्यतः मेगुडी के नाम से जाना जाता है, जो ऐहोळे के शिखर पर ई 635 में विद्वान कवि रविकिर्ती के द्वारा बनवाया



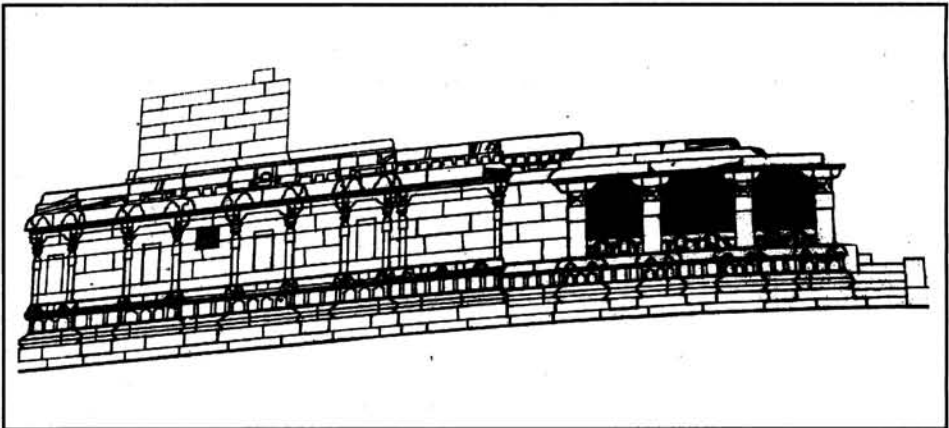
Megudi section (courtesy : Michell)



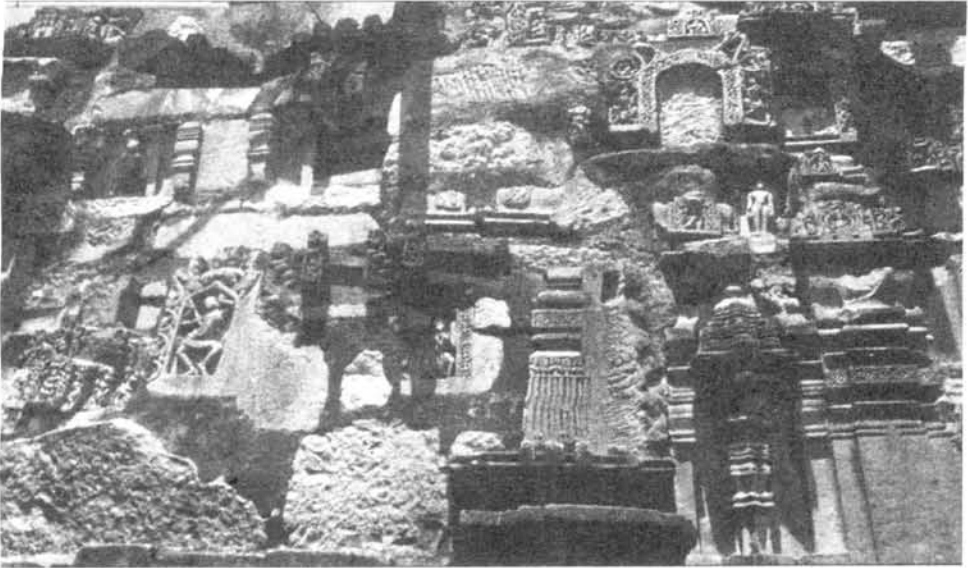
Megudi Adhisthana, Aihole



Plan of Jinendra Bhavana, Aihole



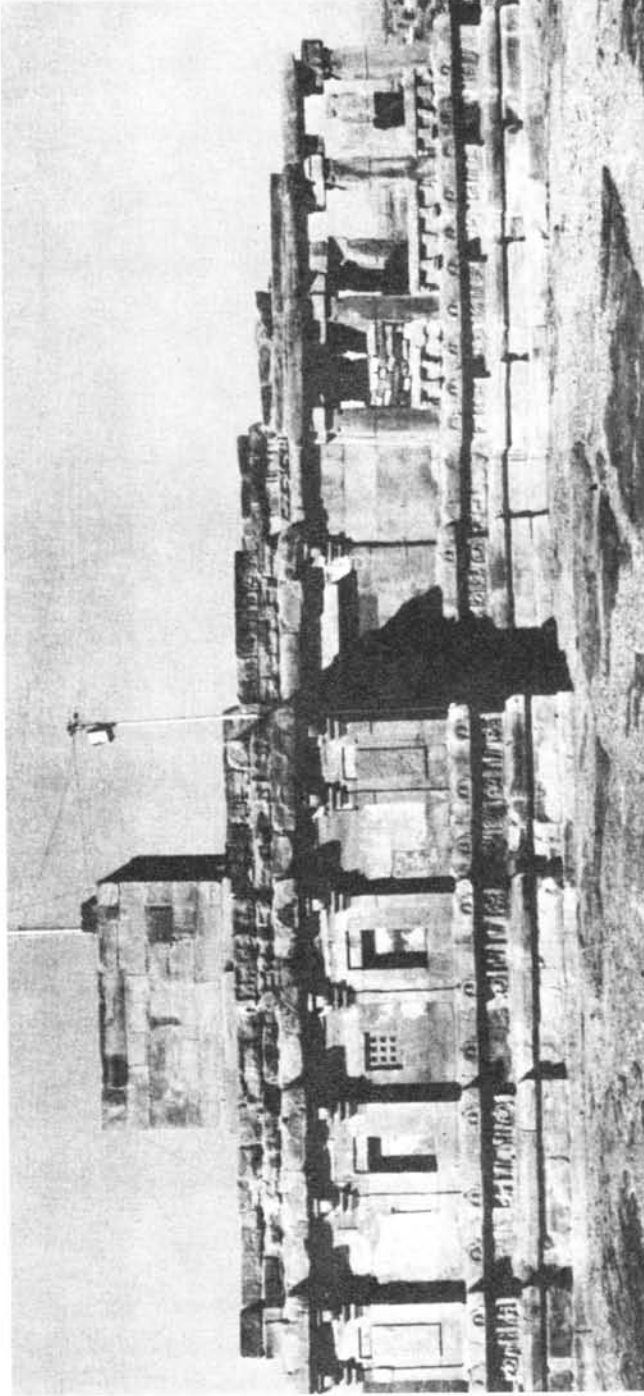
Elevation of Jinendra Bhavana, Aihole (courtesy : Michell)



Sankha Basadi, Wall, exterior, Puligere



Sankha Basadi, Wall, exterior, Puligere



Jinendra Bhavana, view from east, Aihole (courtesy : EITA, AIIS)

गया था। यह अपने युग का शिला मंदिर था। इसका ऐतिहासिक महत्व इसलिए भी है कि यही एक मात्र पहला मंदिर है जिसपर उसके बनवाने की तिथि तथा बनवाने वाले का नाम (रविकीर्ति) दर्ज है। सामान्यतः यह ऐसा पहला मंदिर है जो द्रविड शैली की शिल्पकला में बनवाया गया था। अन्य मंदिर जैसे लाडखां, हुच्चप्पगुडी, दुर्गागुडी आदि एक ही काल के मंदिर हैं।

जैन मंदिरों की शिल्पकला का अध्ययन उसके बाह्य विवरण तथा अद्वितीय आंतरिक घटकों के आधार पर किया जा सकता है। जिनालयों का बाह्य पक्ष तुलनात्मक रूप से सपाट तथा सादा होता है। जिनभवन सादगी का प्रतिरूप होते हैं। अतः उक्त मंदिर के दरवाजे की चौखट एकदम सादी है। अग्र दालान की हस्ति-हस्ता सीढि अर्धमंडप की ओर जाती हैं जो विमान के शिल्प से सुसज्जित है। अर्धमंडप के पाँच द्वार, चार स्तम्भ तथा उसकी तरंग पोटिकाएँ गर्भगृह की चौखट, अंदर तथा बाहर की दीवारें सभी नितांत सादी तथा सामान्य हैं। इस प्रकार मंदिर में गर्भगृह, भ्रमंतिका मार्ग, सुखनासी, अर्धमंडप, तथा खंभों से बना बरामदा है। खाली दालान हैं, प्रदक्षिणा पथ में प्रकाश जाल-गवाक्षों (पत्थर में खुदवाई सलाखों की बनी खिडकियाँ) से आता है। सांदरों का यह विशाल जिनभवन पहाड के सबसे बड़े शिखर पर बनवाया गया। कपोतबंध वर्ग के अधिस्थान की गहरी विशाल चट्टानों पर यक्षों की विविध मुद्राओं में जैसे वाद्य बजाती यक्षों की अप्रतिम प्रतिमाएँ खुदवाई गई हैं जिसकी विशेष दखल लेनी आवश्यक है।

विक्रमादित्य प्रथम के शासनकाल के अंतिम वर्षों में मंदिर का विस्तार करते समय अर्धमंडप का विस्तार किया गया और सामनेवाला दालान भी बनवाया गया। इसी दौरान गर्भगृह के ऊपर गर्भगृह बनवाया गया। अतः परम गर्भगृह की परिकल्पना परवर्ती थी तथा परवर्ती परिवर्धन था। इसी प्रकार परिक्रमा पथ भी बाद में छोटी छोटी कोठरियों में बदल दिया गया, संभवतः चातुर्मास के दौरान धर्मगुरुओं के वास के लिए ऐसा किया गया हो। आधे दालान की पूर्वी दीवार पर रविकीर्ति का एक लंबा संस्कृत भाषा में लिखा पुरालेख है जो जिनेंद्रभवन को अलौकिक बना देता है। विशेषतः वह पुरालेख दार्शनिक तथा धार्मिक सिद्धान्तों को नहीं बल्कि कवि के राजनीतिक चित्र तथा सांस्कृतिक उद्देश्य को ही परावर्तित करता है। इस मंदिर के प्रमुख देवता को पहचाना नहीं जा सकता कारण रविकीर्ति ने मात्र जिनेंद्र भवन का ही उल्लेख किया है। रविकीर्ति ने इस मंदिर के लिए अन्य दो नामों का

प्रयोग किया है एक जिनवेश्म तथा वसति तथा विशेषण के रूप में 'त्रिजग-गुरोः' पद का प्रयोग जिन के लिए किया है।

मेगुडी के मंदिर में अंबिका की प्रतिमा का होना इस ओर संकेत नहीं करता कि उक्त मंदिर नेमिनाथ को समर्पित किया गया था।

द्वार के ऊपरी हिस्से की चौखट के मध्य में कायोत्सर्ग मुद्रा अथवा समभंग मुद्रा में बनी जिन की प्रतिमा या शिल्प आमतौर पर ललाटबिंब के रूप में चित्रित है। दुर्भाग्य से दरवाजे की चौखट पर बनी कुलदेवताएँ तथा प्रमुख देवता मूल नायक की प्रतिमाएँ भग्न हैं। सौभाग्य से अंबिका की प्रतिमा हालाँकि थोड़ी भग्न है किंतु सुरक्षित है। जिस प्रतिमा की पहले सुखनासी कहकर प्रशंसा की गई थी और जो परम शिल्प के पास थी वह अब ऐहोळे के म्युजियम के मंदिर के पास रखी गई है। ऊपरी मंदिर की छत अब गायब है।

पूर्वी चालुक्यों की सबसे अच्छी जैन प्रतिमाओं के नमूने मेगुडी मंदिर के गर्भगृह में प्रतिष्ठापित थी जो ग्रवादियों के हाथों में नहीं पड़ी। आज उनका केवल प्रारंभिक आकार ही उपलब्ध है। संभवतः यह प्रतिमा तथा यक्ष जो कभी सुखनासी में खड़े थे, जो बाद में धार्मिक आंदोलनों के शिकार बन गए। यक्षों की प्रतिमाएँ कहीं भी किसी पहाड़ी पर नहीं है जबकि जिन की प्रतिमाओं को इस प्रकार नष्ट किया गया है कि उनको पहचान पाना भी अब संभव नहीं है। अंबिका का यक्षीवाला शिल्प भी भग्न है। तीर्थंकर की भग्नप्राय प्रतिमा यह बताती है कि वह मुक्कोडे के नीचे मूलतः सिंहपीठ पर विराजमान है और उसके सिंहासन के पीछे चामरधारी है। जिसके पीछे तर्किए पर लेटकर आराम करता हुआ दिखाया गया है। सिंहासन की दुर्लभ चौखट पर मकर तथा सिंह के सिर हैं। मुक्कोडे का नाश करना, जिन के लंबे कान, चरण जो आसन की ओर संकेत करते हैं, तथा जिन की मुद्रा का नष्ट होना यही सिद्ध करता है कि प्रतिस्पर्धी धार्मिक-दल का मुख्य लक्ष्य इन प्रतिमागत प्रमुख वैशिष्ट्यपूर्ण स्थानों पर आक्रमण करना था। (राजशेखर एस: 1985:193)

यह स्मरण करना होगा कि जब तक कि जिनेंद्रभवन बनवाया गया तबतक ऐहोळे (580) तथा बादामी (595) की जैन गुफाओं का उत्खनन तथा पुलिगोरे के शंखजिनालय तथा परलूर के शांतिश्वर जिनगृह का निर्माण पूर्ण हो चुका था। जाहिर है कि रविकीर्ति ने इन प्रारंभिक प्रार्थनागृहों को देखा होगा।

जिनेंद्रालय के लिए रविकीर्ति द्वारा लिखित असाधारण शिलालेख दर्शक दीर्घा के बाहरी दीवार के दाहिने ओर लगाए गए हैं। एक के ऊपर एक मंजिलवाले मंदिर की परिकल्पना का यह पहला एकमात्र मंदिर है जिससे परवर्ती काल में इस प्रकार के शिल्पकला की शैली में बने मंदिर-निर्माण की शुरुवात हुई। दो मंजिलों वाले मंदिर की संरचना को प्राथमिकता देना उत्तर मध्यकाल तक चलता रहा। इतना ही नहीं जिन मंदिर शिल्पों में ऊपर वाला मंदिर बनवाना जैसे एक आम बात हो गई। से। गेव्व बसदी (ऐहोळे), पट्टदकल्ल हसदी, तथा हल्लुर का पार्श्व जिनालय राष्ट्रकूटों के प्रारंभिक युग के इन तीनों मंदिरों में ऊपर मंदिर बनाने की शैली को थोड़ी सी भिन्नता के साथ अपनाया गया, जैसे अर्धमंडपा चालुक्यों के सांस्कृतिक वैभव तथा शिल्पकलागत उपलब्धि का सर्वप्रथम उदाहरण मेगुडी है। प्रदक्षिणा पथ की परिकल्पना जैन शिल्पकला में उत्तर मध्यकाल में समा गयी। चालुक्यों के युग का लेखक जो एक महान साहित्यकार तथा उपदेशक जटासिंहनंदी के वरांग चरित में इसका उल्लेख है।

मेगुडी उसके शिल्पगत वैशिष्ट्य से अधिक उसकी प्राचीनता के कारण प्रभावशाली बनता है। हालाँकि यह मंदिर रचना में एकदम सामान्य है किंतु इसका महत्व संरचनात्मक वास्तुकला के विकास में उसकी ऐतिहासिक भूमिका के कारण है। इसकी कई विशेषताएँ हैं जो निम्नलिखित हैं।

1. प्राकृतिक रमणियता से परिपूर्ण।
2. प्राचीन चालुक्य युग का एकमात्र तिथियुक्त मंदिर
3. प्राचीनतम जिनालय जिसमें शासनदेवता की स्वतंत्र प्रतिमा प्रतिष्ठापित है।
4. पहला विद्यमान मंदिर जिस पर एक और मंदिर है।
5. सबसे पहला मंदिर जिसमें गर्भगृह, प्रदक्षिणा पथ, सुखानासी तथा अर्धमंडप, खबों से युक्त दालीन तथा ऊपरी मंदिर है।
6. सबसे पहला मंदिर जिसे एक दरबारी कवि ने बनवाया।
7. दक्षिण का पहला मंदिर जिसमें अंबिका की प्राचीन प्रतिमा प्रतिष्ठापित है। सबसे बड़ा वैशिष्ट्य यानि उसके मंदिर की दीवार पर बने कु स्तंभ तथा आले जो पहले यहाँ से शुरू हुए फिर जिन की नकल लाडखान तथा जंबुलिंग मंदिर में की गई।

परमार राजा के कवि धनपाल ने प्रथम तीर्थंकर के समर्पित जैन मंदिरों का वर्णन किया है।

एकत्रंग (पूर्व हिमालय का पहाड़ी भाग) की पहाड़ी पर दिव्यराम के मध्य में बने जिनेन्द्र भवन चार देवतागार गोपुर द्वारों तथा प्राकार प्रतोलिकों से घिरा है तथा पश्चिमी दीवार पर एक संगमरमर की शिला लगाई गई है जिसपर एक प्रशस्ति खुदवाई गई है। (धनपाल-तिलकमंजिरी द्वितीय संस्करण) कुछ ऐसे विवरण रविकीर्ति के जिनेन्द्र भवन पर लागू होते हैं।

यह जिनेन्द्रभवन रविकीर्ति तथा शिल्पकार की सौंदर्यदृष्टि को अच्छी तरह से प्रतिबिंबित करता है। मंडप सामने वाले दालान तक जाने वाली एक तरफ की दीवार, खंभों वाला प्रशस्त कक्षासन वाला दालान सामने वाली सीढियाँ निश्चित ही बाद में बनवाई गई हैं।

कई सारे पुरालेख ऐसे हैं जो जैन जाति के विस्तार तथा विकास, प्रचुर सहायता तथा निधियों की साक्ष्य देते हैं। जिनेन्द्र भवन के निर्माण के बाद जैन उत्सव तथा सांस्कृतिक गतिविधियाँ को इस युग में अधिक प्रोत्साहन मिला।

ईसा पूर्व युग के जैन अवशेषों से कोपणनगर परिपूर्ण है, जो इस युग का जैन प्रभाव का सबसे शक्तिशाली जैन स्थान था। सातवीं तथा आठवीं सदी में यह जैनमुनियों का आश्रय स्थान था और इस स्थान के पुरालेखों पर जैन संत जैसे सर्वनंदी, तथा जटासिंगनंदि आचार्यों का उल्लेख हुआ है जिनका कोप्पळ में देहांत हुआ था। स्थानीय परंपरा में कोप्पळ बसतियों के लिए जाना जाता है जहाँ कभी कम से कम 772 बसदियाँ प्राप्त हुई थीं और इस स्थान के आसपास प्रचुर मात्रा में इसकी साक्ष्य के अवशेष भी प्राप्त हैं। इस प्रकार आडूर के पास पुलिगेरे, पलसिगे के पास ओक्कुंड, ऐहोळे के पास किसुवोळाल अथवा पट्टदकल तथा कोपणनगर अथवा कोप्पळ जो कविराजमार्ग में तिरुल गन्नड प्रदेश की सीमा के रूप में वर्णित हैं, जो जैनों तथा जैन संस्कृति के केंद्र थे, जहाँ जैन कवियों तथा दार्शनिकों के द्वारा कन्नड भाषा का पोषण एक साहित्यिक अभिजात भाषा के रूप में किया (K1: VOL.1. No.3. Intro)

पुरालेख में गडि केशवार (गुलबर्गा जिला चिंचोळि तालूका) का उल्लेख केशवपुर के नाम से है जो कि एक अन्य प्रमुख केंद्र तथा सांस्कृतिक गतिविधियों का केंद्र था जो जैन जाति के साथ चलता है। हालाँकि विद्यमान जैन पुरालेखिय साक्ष्य मध्यकाल से मिलते हैं, ग्यारहवीं सदी का अपने विस्तार तथा पुनर्नवीकरण

से युक्त पूर्वमुखी जैन मंदिर, मकान, जिन की सबसे प्राचीन प्रतिमा जो कि बादामी राजा के शासनकाल की हो सकती है।

तीन प्राचीन जैन मंदिरों में एक जो गाँव दक्षिण भाग के छोर पर कुम्हारों की गली में है, जो कि सबसे वैशिष्ट्यपूर्ण है। स्थानीय लोग इस मंदिर को कंचुगारस बसदी के रूप में जानते हैं। जाहिर है यह मंदिर व्यापारी वर्ग ने बनवाया था। दाहिने दरवाजे के द्वार के उपरी भाग पर एक पुरालेख है जिसमें लिखा है कि मसणय्या ने जैन पार्श्व मंदिर बनवाया था। माघनंदियपि के एक सामान्य शिष्य मतिसेट्टि ने इस मंदिर को मध्यकाल में फिर से बनवाया था। (infra)

पूर्व दिशोन्मुखवाले पत्थरों में बनवाये खंडित जिन पार्श्व मंदिर में गर्भगृह, खुला दालान, कक्षासनवाला प्रवेश दालान है। इसका अधिस्थान कपोटबंध वर्ग का है। नवरंग के चार स्तम्भ पूर्वी राष्ट्रकूट काल के हैं। पाँचवा स्तम्भ भी जो बायीं ओर के दो खंभों के मध्य खड़ा है और एक टूटा हुआ खंभ उसको आधार देने के लिए उसके ऊपर रखा गया है, वह सब नौवीं सदी की शैली का है। (नागराजय्य, हंप 2000:248).

बादामी की जैनगुफा के अंदर आसनस्थ यक्ष सर्वाह्ण का शिल्प दक्षिण का सबसे प्राचीन शिल्प है जबकि गडिकेश्वर में सर्वाह्ण की आसनस्थ स्वतंत्र प्रतिमा भी प्राचीन है। ये दोनों आकृतियाँ इस पुस्तक के लेखक ने पहचान ली है। नष्टप्राय गर्भगृह की जिन पार्श्व की सुंदर प्रतिमा अद्वितीय है। ऊपर की गोल प्रतिमा भव्य प्रतिमा के रूप में जानी जाती है। गहरी तपस्या में बैठे पार्श्व की शिल्पाकृति के पीछे एक आभामंडल है जो प्रकाश विकीर्णित कर रहा है। उसके सिर पर धरणेंद्र अपने तीन फनों का छत्र बनाए खड़ा है। छत्रालय की बगल में चामरधारियों की ऊँची शिल्पाकृतियाँ तथा चैत्यवृक्ष की आकृतियाँ दिखा देते हैं। परिकरों के सुंदर शिल्पों का विवरण बादामी-चालुक्य शैली का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसमें उसकी कोमलता तथा वैशिष्ट्य एक साथ नज़र आता है। शिल्पकारों का तकनिकी कौशल उच्चतम सौंदर्यदृष्टि के साथ मिलकर अन्य घटकों के उचित अनुपात में मिलता है। दुर्भाग्यवश उसका सिंहासन गायब है।

अप्रतिम तथा सममित प्रतिमा सातवीं तथा आठवीं सदी के मध्य बनी थी, संभवतः राजा विजयादित्य सिंहासनाधिष्ठ था। जैन मंदिर के मार्ग पर जाते समय कई प्राचीन आकृतियाँ टूटे खंभे आदि एक ओर फेंके हुए मिले जाते हैं। मार्ग में ऊँचे से टीले पर पड़े अवशेषों में आसनस्थ द्विभुज यक्ष के शिल्प के शरीर के

भाग है। कर्नाटक की यह अत्यंत प्राचीन प्रतिमा है जो सातवीं सदी के बादामी चालुक्य-काल की है। इतना ही नहीं अनुसंधाता यह भी निश्चित करते हैं कि गडिकेशवार की सर्वाण्ह यक्ष की प्रतिमा पहली तथा स्वतंत्र प्रतिमा है। चालुक्य साम्राज्य में जैन धर्म के फैलने के क्या कारण थे यह बताने के लिए यह सारे साक्ष्य काफी हैं। भले ही यह समय की गर्त में खो गया है फिर भी मिथकों, स्मृतियों तथा कुछ खास अवशेषों से सुरक्षित हैं, गडिकेशवार सूदूर ग्रामीण क्षेत्र में एक रत्न सा है।

इस पुस्तक के लेखक के द्वारा हाल ही में मल्लसमुद्र में तीन प्राचीन जैन प्रतिमाओं की खोज की है और यह साबित किया है कि यह ग्राम आठवीं सदी का प्रसिद्ध जैन संस्था का केंद्र था। हालाँकि अब वह प्राचीन पुराना मंदिर अस्तित्व में नहीं रहा, किंतु पूर्वोन्मुखी एक छोटे से हाल में तीन जिन की तीन भव्य प्रतिमाएँ एक ऊँचे चबूतरे पर स्थापित की गई हैं। उनमें से दो खड्गासन में स्थित जिन पार्श्व की तथा एक जो अर्धपद्मासन की मुद्रा में है वह महावीर की है।

जिन पार्श्व की दो शिल्पाकृतियों में एक जो पाँच फनों वाले छत्र की है वह कर्नाटक की सबसे प्राचीन शिल्पकृति है। जिसका समय ईसा की आठवीं सदी का है। जिसमें उड़ते हुए देवदूत या चामरधारी या सेवक देवताओं का अभाव जरूर है। अनुपातपूर्ण बलशाली देह, थोडा सा अंडाकार मुख, लंबे कान, तथा मुंडन किया हुआ सिर उसकी सौंदर्यदृष्टि तथा जिनबिंब की रचना का ही उद्घाटन करती है। गुड्डे जैसा ठोसपन तथा प्राचीन नग्नता जो जिन शिल्प का वैशिष्ट्य है, इस शिल्पकृति में अत्यंत सुंदरता से प्रदर्शित किये गये हैं। ऐहोळे तथा बादामी की गुफाओं के सामने वाले दालानों में स्थित जिन पार्श्व के शिल्प भी छठी सदी के माने जाते हैं जो पीतल में खुदवाए गए हैं। किंतु अब तक मल्लसमुद्र की प्रतिमा चालुक्य काल की प्रथम जानी मानी तथा स्वतंत्र प्रतिमा है, जो एक काली चट्टान पर है। (नागराज्जय्य हंप 2000-244) पुरालेखिय साक्ष्य यह निश्चित करते हैं कि मल्लसमुद्र यह एक बहुत ही प्राचीन स्थान है तथा मुलगुंद तथा पुलिगेरे जो कि दो अत्यंत प्राचीन जैनपीठ हैं, के साथ उसका बहुत करीबी संबंध है।

पद्मासन मुद्रा में बैठी एक अन्य जिन की ध्यान-धारणा में लीन प्रतिमा, जो अमरेश्वर मंदिर के बाहर एक छोटे से कक्ष में कृष्ण नदी की ओर उन्मुख, प्रतिष्ठापित की गई है। यह प्रतिमा सकल आंध्रदेश के जिन शिल्पों में एक मात्र है। इसकी दो तहों वाली केश रचना, पीछे की ओर मुड़े केशों के मध्य में उज्जिषा, जो उत्तर

की कुछ प्रतिमाएँ विशेषकर ओरिसा खंडगिरी गुफाओं में स्थित प्राचीन शिल्पाकृति के समान हैं। पीछे की ओर मुड़े केश तथा सिर के मध्य भाग में उज्जिषा, संभवतः गांधार के प्रभाव के कारण रहा है, इस पर विचार करना भी जरूरी है। पास ही बह रही कृष्ण नदी से निकाली गई प्रतिमा तथा हस्तमुद्राओं का शरीर के साथ त्रिकोण बनाना आदि यही जताते हैं कि यह प्रतिमा सातवीं-आठवीं सदी की है। यह तो निश्चित है कि अमरावती तथा कृष्ण नदी की खाई के अन्य स्थानों पर धार्मिक संस्कृति का विधान चलाने में जिन प्रभाव का बहुत बड़ा हाथ है तथा पुरालेखिय तथा शिल्पगत गवाहों के द्वारा इस तथ्य को आधार मिलता है।

पट्टजिनालय की संकल्पना की जड़ें कदंबों तथा गंग घराणों में मिलती हैं और जिनको एक विशिष्ट आकार चालुक्यों के शासनकाल में मिला, जिन्होंने शंख जिनालय को अपने इष्ट देवि में बदल दिया और अधिकृत रूप से इसे पट्टजिनालय बनाया। पट्टदकल्ल इस नाम की व्युत्पत्ति को भी विशेष रूप से ध्यान में रखना होगा। पट्टदकल, पट्टद, किसुवोळाल का संक्षिप्त रूप है, जिसमें पट्टद यह शब्द किसुवोळाल का उपसर्ग है। जिससे यह स्थान किसुवोळाल से अलग हो जाता है और साथ ही अन्य जिनालयों से पट्टद जिनालय भिन्न लगे। अतः पट्टदकल में 'कल' परसर्ग किसुवोळाल (लाल रंग की नगरी) का संक्षिप्त रूप है। अब्बिगेरे के पुरालेख (गदग जिला रोण तालूका तिथि 1113) में किसुवोळाल के आस पास का भाग 'किसुवोळाल' नाडु के नाम से जाना जाता है।

किसुवोळाल में हाल ही में किए गए उत्खनन में विद्यमान जैन मंदिर के संकुल में ईंटों में बनवाया एक और जिनालय प्रकाश में आया है। इस जिनालय में गर्भगृह, अंतराल तथा सभामंडप भी है जो छठी सदी के मध्य का हो सकता है, और जो तत्कालीन युग का सबसे प्राचीन जैन मंदिर हो सकता है। उस ईंटों वाले मंदिर की साँचे में ढली बुनियाद गौडर गुडी के समान लगती है। (राव एस आर. New light on Chalukya Architecture', The Chalukyas of Badami (ed) M.S.N. Rao: 1978:274)

पट्टदकल का जैन नारायण मंदिर कोल्हापूर में स्थित रूपनारायण जिनालय साथ ही नारायण (वासुदेव) प्रतिनारायण (प्रतिवासुदेव) की अवधारणा का तुरंत ही स्मरण दिलाता है, जो 63 महान व्यक्तियों में गिने गए हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है, 20वीं सदी के अंतिम दशकों में जैन मंदिर के आसपास किए गए उत्खनन में ईंटों से बना एक और जैन मंदिर और कायोत्सर्ग मुद्रा में पायी गई जिन की

प्रतिमा शायद कदंबों के शासनकाल के अंतिम दशक की होगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रदेश में जैन धर्म छठी सदी से ही बहुत गहरी जड़ें जमा चुका था। खुदे हुए प्रमाणों के अभावों के कारण मंदिर के देवता का पता लगाना बहुत कठिन होता है, और उपर्युक्त प्राचीन प्रतिमा की खोज के बाद तो और भी कठिन है।

राजकुमारी कुंकुम ने अपने बचपन से ही, अपने दादाओं के शासनकाल में बादामी तथा ऐहोळे में पायी गयी अर्हत पार्श्व तथा केवलि बाहुबलि की शिल्पाकृतियों तथा ऐहोळे जैनेन्द्र भवन में अंबिका की प्रतिमा को देखा है और उनकी पूजा भी की है। जाहिर है कि वह जिनभवन तथा पार्श्व, बाहुबलि, अंबिका का उसी प्रकार पवित्रीकरण चाहती थी जैसा कि उसने देखा तथा उनकी प्रशंसा भी की थी। इस पार्श्वभूमि पर मैं यह कहने का साहस कर रहा हूँ कि बोगार बसदी के स्तम्भों पर पार्श्व तथा बाहुबलि की शिल्पाकृतियाँ खुदवाकर उसके पति चित्रवाहन ने तो जैसे रानी का सपना ही पुरा किया हो। ऐसे में बोगार बसदी परवर्ती काल की हो सकती है। आम्र की प्रतिमा को ऐहोळे की प्रतिमा की तरह ही खुदवाया गया है, जो निश्चित ही आठवीं सदी के प्रारंभिक दशकों की है।

बोगार बसदी होम्बुज की सबसे पुरानी एवं प्राचीन नींव है। अक्सर यह जिनेंद्रालय बोगार बसदी के नाम से जाना जाता है और कभी-कभी इसका उल्लेख अशोकवन बसदी के रूप में भी किया जाता है। बोगार यह कन्नड शब्द व्योकार (लोहकार) का अपभ्रंश रूप है। लोह-व्यापारी समुदाय के द्वारा संस्थापित होने के कारण यह मंदिर बोगार बसदी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इससे गधिकेश्वरा (गुलबर्गा जिला, चिंचोली तालुका) का कंचुगार बसदी का स्मरण होता है, इस मंदिर का नाम बनवाने वालों के नाम पर पड़ा। इसे घंटी बनवानेवालों ने बनवाया था।

बोगार बसदी को एक अन्य नाम अशोकवन बसदी पड़ने के पीछे कारण यह था कि यह घने जंगल में स्थित है। यह मंदिर ऐसा लगता है मानों प्रकृति की गोद में एक छोटा, सुंदर सा बालक बैठा हो। बादामी-युग के शिल्पों में यह मंदिर अपनी शिल्पकला में अद्वितीय है। उसके मूल ढाँचे के बावजूद उसे थोडा ग्रीवा तथा शिखा से भारयुक्त कर दिया गया है, उसके पुराने कपडे अभी भी ठीक है। प्रतिबंध पर बनाए गए विमान तथा महामंडप तथा पदबंध अधिस्थानों के साथ बोगारबसदी की भित्तियाँ ब्रह्मकांत की शिल्पाकृतियों से युक्त हैं।

परमआकृति गृहपिंडी से बनवायी गयी है जो सालाकोस्थ से समृद्ध है। जबकि कर्ण ने कपोतपंजर धारण किया है।... महानासिस को एक जैसा ही वनस्पति संवर्धन है जैसा कि कुटों तथा सालास में, किंतु कुछ थोड़ी से बड़े आकार में उनकी गुफाओं में जिन की शिल्पाकृतियाँ आसनस्थ हैं। उसकी गोलाई साथ ही साथ शिखरों का अनुपात भी द्रविडदेश के समकालीन उदाहरणों से भिन्नता रखते हैं किंतु कुटों से समानता रखते हैं। एक छोटा अंतराल गुढमंडप को विमान से जोड़ता है। (c.20 ft 5 in wide) (Dhaky 222)

लंबा पट्ट, रत्न रस्से को उत्सर्जित करती चौड़ी पेट्टी, एक खुदी हुई लहराती लतिका, नीचे आसनस्थ जिन की शिल्पाकृति तथा दालान के भीतर चार भ्रमकांत स्तम्भों के शहतीर पर बनी बाहुबलि तथा अर्हत पार्श्व की कायोत्सर्ग मुद्रावाली शिल्पाकृतियाँ शिल्पकारों की छैनी की कुशलता तथा कला का प्रमाण है। प्रचुर तथा तीक्ष्णता से खुदे आभूषणों की नक्काशी अपनी ऊँची गुणवत्ता तथा कलाकारी प्रारंभ से लेकर अंत तक एक सी बनाए रखी है और ये कर्नाटक के सबसे अच्छे उदाहरण हैं। गर्भगृह के अंदर का सिंहासन उतना ही प्राचीन है जितना कि वह मंदिर है लेकिन वहाँ की प्रतिमाएँ आधुनिक हैं। कुल मिलाकर मंदिर राजसी है पर उसके आकार में न होकर उसके उत्कृष्ट होने में हैं। (डाकि 222-223).

प्रो.ए. सुंदर के अनुसार यह मंदिर वातापी युग के प्रारंभिक काल के सातवीं सदी का है। प्रो.एम.ए. डाके इसे राष्ट्रकूटों के काल में रखते हैं। सारी बातों को ध्यान में रखने के बाद मुझे लगता है कि यह बसदी बादामी के शासनकाल के प्रारंभिक दशकों की है। इस नतीजे पर पहुँचते समय शिल्पकला के मूलतत्त्व जैसे,

1. द्वारमार्ग पर संरक्षक शिल्पाकृतियों का अभाव
2. दरवाजों के पाखों पर खुदाई शंखनिधि तथा पद्मनिधि का प्रतिमाएँ
3. नवरंग के भीतर कॉलम के ऊपर का लंबा पट्ट जो नागरल में स्थित चालुक्य मंदिर (सिरका सातवीं सदी) तथा एलोरा के कैलास मंदिर (लगभग 750) से साम्य रखता है।

ये सभी मंदिर की प्राचीनता ही जताते हैं। और तो और यह मंदिर आठवीं सदी के कमठेश्वर के हिंदु मंदिर से कई बातों में साम्य रखता है। विद्यमान जिनायतनों जैसे हलसी जिनगृह (छठी सदी), पुलिगेरे का शंखजिनालय (मध्य छठी सदी), ऐहोळे मेगुडी (634) में बोगार बसदी (लगभग 730) बादामी साम्राज्य में मुकुट की तरह चमकते हैं। लालित्यपूर्ण अनुपात तथा उच्च स्तर की कारीगरी की दृष्टि से

अगर इनको आँका जाय तो इन मंदिरों को कर्नाटदेश के इस युग के सबसे सुंदर मंदिरों में गिना जाना चाहिए। (ढके 222)

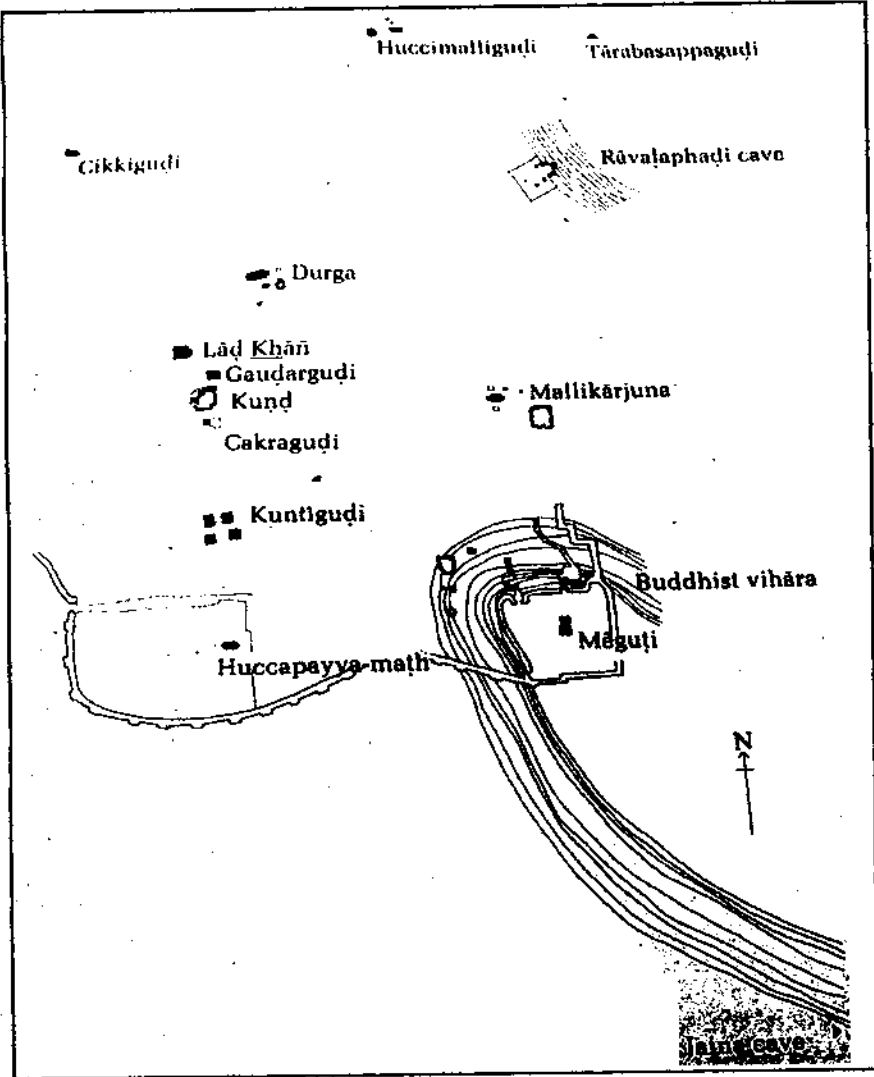
जैन केंद्रों ने मध्ययुग की अंबिका (आम्र, कूष्मांडिनी) के पाँच स्वतंत्र शिल्प बनवाये जो ग्रेनाइट में बनवाए गए हैं। इन आकृतियों की अपूर्वता यह है कि सभी पाँचों आकृतियाँ द्विहस्ति, विश्वपद्म में ललितासन में हैं, जिसका बाया हाथ गोद में बैठे अपने बेटे को आधार दे रहा है और दाहिना हाथ आम्रलुंबी धारण किए हुए हैं। पाँच शिल्पाकृतियों में से दो बोगारा बसदी के पास हैं और एक आठवीं सदी के प्रारंभ के दशकों की है जो कि बादामी शासन के काल में पडती है। संभवतः यह शिल्पाकृति 22वें तीर्थंकर नेमिनाथ को समर्पित एक भिन्न संभवतः उससे भी प्राचीन मंदिर की है। कोई भी ऐसा कारण नहीं मिलता कि जो यह बता सके कि क्यों ये प्रतिमाएँ मंदिर के बाहर रखी गई हैं जबकि दोनों प्रतिमाएँ तथा मंदिर जैन जाति की ही हैं।

श्रवणबेळगोळ की शासन देवी अंबिका होने के कारण यह स्वाभाविक तथा न्यायोचित है कि अंबिका की प्रतिमाएँ संख्या में अधिक हैं। होंबुजा की प्रधान देवी पद्मावतीदेवी है। लेकिन यहाँ की पुरानी विद्यमान स्वतंत्र प्रतिमाएँ अंबिका की है। इसको ज्यादा अहमियत देने का कारण क्या रहा होगा यह जानना कठिन नहीं है कारण इतिहास में सांतरो के उदय बादामी साम्राज्य के सेवकों के रूप में हुआ, जिन्होंने अंबिका की आराधना को बढ़ावा दिया। जाहिर है कि, उनके शासनदेवता की आराधना के स्वीकृति प्राप्त करने के लिए सांतरो ने जैन धर्म को अपने विश्वास का संबल बनाया और प्रसन्नता से अंबिका की मूर्ति की स्थापना की। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि पोंबुर्च का प्रधान चित्रवाहन प्रथम (663-730) ने विनयादित्य की पुत्री कुंकुम महादेवी से विवाह किया था।

पुलिगेरे- शंखबसदी

वैभवपूर्ण नगरों का निर्माण किया गया तथा जो धार्मिक, सामाजिक-सांस्कृतिक, शिल्पकलागत, आर्थिक तथा व्यापार जैसे विभिन्न क्षेत्रों की व्यस्त गतिविधियों का स्थान बने। पुलिगेरे के व्यापारियों के पट्टि (आधुनिक हट्टियंगडि, कुंडापुर तालूका, सांतरो की दूसरी राजधानी) के साथ व्यावसायिक संबंध थे। जिनदत्त (सातवीं सदी) ने पट्टी के आठवें तीर्थंकर चंद्रनाथ उपनाम चंद्रप्रभ को समर्पित किया था जो बाद में आग में जल गया और बाद में उसका फिर निर्माण किया गया।

स्थानीय लोककथाओं के अनुसार यह पवित्र जैनों का तीर्थस्थान कभी 772 बसदियों से भरपूर था। ऐसे ही कुछ उदाहरणों का अभाव नहीं है। जैसे कोप्पल, एक अन्य जैन केंद्र 772 बसदियों से चमकता था। इसी तरह मारुडिगे (गुलबर्गा जिला) जिले में भी 700 जैन मंदिर थे। इन दावों की सच्चाई जानने तथा सच्चाई की परख करने के लिए पुरालेखिय साक्षों समेत विश्वासपात्र गवाहों की हम पुनः परीक्षा करनी होगी।



पुलिगेरे जैन मंदिर का शहर था तथा शंखजिनालय एक ऐसा मंदिर था जिसे एक सदी तक निरंतर शाही दान मिला था।

शंख बसदी के साथ-साथ अन्य अनेक प्रसिद्ध जैन मंदिरों का उल्लेख पुरालेखों में हैं....

1. अनंतनाथ त्रिकुटाचल जिनालय
2. आनेसेज्जय्या बसदी
3. चतुर्मुख चैत्यालय
4. धवल जिनालय
5. गंग कंदर्प बसदी
6. गंग पेरमाडी चैत्यालय (पेरमाडी बसदी)
7. गावुंडन बसदी
8. गोगिया बसदी
9. जिन्नोजन बसदी
10. मतिसेयि बसदी
11. मरुदेवी बसदी
12. मुक्कर बसदी
13. पंच बसदी
14. राय राचमल्ल बसदी
15. शंख जिनालय
16. शांतिनाथ जिनालय
17. श्रीविजय जिनालय
18. तीर्थ बसदी

हालाँकि कई जैन मंदिर पुलिगेरे में चमक उठे और उनमें से कई नष्ट हो गए और आज उनका कोई सुराख नहीं है। दुर्भाग्यवश उनमें से कुछ नष्ट हो गए हैं या नष्ट कर दिए गए हैं या फिर जल गए हैं या ऐसे तुडवाए गए हैं कि जमीन पर अक्षरशः कुछ भी शेष नहीं रहा। त्रैलोक्यमल्ल सोमेश्वर प्रथम के शासनकाल में चोळ आक्रमण के दौरान यह तबाही हुई थी। इसी के साथ भुवनैकमल्ल सोमेश्वर द्वितीय (1042-68) ने चोळों द्वारा की गई तबाही को फिर से ठीक करने का प्रयास किया। पुनःनिर्माण की प्रक्रिया में, जैसा कि यह अक्सर होता है, जो भी पुराने अवशेष होते हैं वे भी लुप्त हो जाते हैं। अतः एकदम नई शिल्पाकृतियों

का निर्माण हुआ। शंखबसदी तथा अनंतजिनालय बसदी जो शेष हैं, मात्र अपने पूर्व आकार प्रकार की मात्र नकल ही है। पाँच गर्भगृह वाले दोनों मंदिर चालुक्य शिल्पकला की शैली में बनवाए गए थे। किंतु एक बार फिर ये 15 वीं सदी में दक्कनी सल्तनत के दौरान नष्टप्राय होने लगे थे। सुंदर तथा प्रसिद्ध शंखजिनालय ने काफी विध्वंस का सामना किया और इसके पाँच विमानों की दीवारें बुरी तरह से टूटी हैं। गहरी खाइयाँ जहाँ भी चानों में खुलती हैं पत्थर से भरी हैं।

सौभाग्यवश, अनंतनाथ बसदी, 14वें तीर्थंकर को समर्पित की गई थी, जिसे थोड़े अच्छी तरह से सुरक्षित रखा है। भीतर पृष्ठ-दालान का श्रीकार स्तम्भ यही सूचित करता है कि उक्त मंदिर का पुनर्निर्माण किया गया था लेकिन इस स्तम्भ को वैसे ही रखा था। ऊपर जिन अन्य मंदिरों का उल्लेख किया गया है वे चालुक्यों के परवर्ती काल के हैं। धवल जिनालय, आनेसज्जे बसदी तथा मोक्कास बसदी चालुक्य-काल के प्राचीन तथा समकालीन मंदिर थे।

छठी सदी के आस-पास होजेश्वर मंदिर के अलावा अन्य सुरक्षित मंदिरों में से स्वयंभु सोमेश्वर मंदिर भगवान शिवजी को समर्पित है। इसके अलावा ब्रह्मशिव (1175).... एक जैन कवि ने कहा है कि इस शिव मंदिर को ही जैन मंदिर से बदल दिया गया था। ब्रह्मशिवा का काल स्वयंभु मंदिर के निर्माण के आसपास होने के कारण उसके विचार को अनदेखा नहीं किया जा सकता। अतः कहाँ और कब भी महत्वपूर्ण है। तथापि, वर्तमान सोमेश्वर देवालय का शिल्प जैन अवशेषों को प्रकट नहीं करता। हालांकि ब्रह्मशिव के कथन का कोई ठोस सबूत नहीं है। हो सकता है कि सोमनाथ (सोमेश्वर) मंदिर की जमीन मूलतः एक नष्टप्राय जिनालय की रही हो अतः इस प्रकार की बातें जड़ें पकड़ने लगीं।

राजनीतिक आवश्यकता के तहत मौलिक प्रतिमाओं में से कुछ प्रतिमाएँ लक्ष्मेश्वर (पुलिगेरे) में वर्ष 1999 में प्रकाश में आयीं। पुरी छान-बीन तथा विचार-विमर्श के बाद इस पुस्तक के लेखक ने हाल ही में किए गए उत्खनन में पायी गयी प्राचीन जैन प्रतिमाओं में एक प्रतिमा को मूलनायक (तीर्थंकर) की प्रतिमा के समान पाया जो कभी आंजनेय बस्ति में प्रतिष्ठापित की गयी थी, जिस बस्ति को आळुपा चित्रवाहन की रानी, विनयादित्य की पुत्री, तथा विजयादित्य वल्लभ की बहन कुंकुम देवी ने बनवाया था।

कुछ शाही आधारशिला पर राजाओं, रानियों तथा राजकुमारियों के नाम पाये जाते हैं, जिन्होंने इन मंदिरों के लिए निधियाँ दी थी या फिर मंदिर निर्माण किए

थे, वे सारे ऐतिहासिक महत्व के थे। विद्यमान ऐतिहासिक डाटा के आधार पर इन शाही मंदिरों पर विचार होना चाहिए। शाही राजवंशों के सदस्य अक्सर इन स्थानों को भेंट देते थे तथा शाही मंदिरों में जाकर अपनी श्रद्धा-भक्ति दिखाते थे और दान देते थे और अपनी भेंट तथा दान निधि का रिकार्ड भी पुरालेखित करते थे।

शंखबसदी में स्थित अप्रतिम सहस्रकूट की प्रतिमा जो कि ऐसी शिला में बनवायी गयी है जिसमें जिन की 1014 छोटी छोटी प्रतिमाएँ खुदवाई गई हैं, जो अत्यंत सुंदर हैं और इसके मध्य तीर्थंकर की एक आदमकद प्रतिमा है जो चतुर्विंशति की परिकल्पना पर बनवायी गयी है। सहस्रकूट निश्चित ही बाद का जोड़ है और जो कि चालुक्यों के शासनकाल की नहीं है। संभवतः ये इनसे भी पहले कल्याण के चालुक्यों के काल की हो सकती है।

ऋमानुसार शंखबसदी कर्नाटक के प्राचीन जैन मंदिरों में से एक है जो पूर्वी कदंबों के काल तथा कुछ पूर्वी गंगों को मंदिरों के बाद की है जिनका पुरालेखों में उल्लेख किया गया है। किंतु जहाँ तक विद्यमान जिनालयों का संबंध है सबसे प्राचीन सुरक्षित इमारत पाँचवीं सदी के हलसी जैन मंदिर की है।

छठी सदी के अंतिम दशकों में निर्मित शंख बसदी मंदिर को ऐहोळे तथा बादामी जैन गुफा मंदिरों में प्रथम मंदिर बनने का विशेषाधिकार था। मंदिरों तथा प्रार्थनास्थलों को चलाने के लिए समकालीन शाही लोगों ने ग्राम तथा जमीन दान में दे दिए। सातवीं सदी के प्रारंभ से ही राजाओं से 15 वीं सदी तक प्रचुर मात्रा में दान मिलता रहा। उत्साही अनुयायियों को जिस प्रकार के दान तथा भेंट मिला करते थे उसमें विविधता थी उसमें ग्रामदत्ती, भूदान से लेकर सोना-चाँदी भी शामिल थे। कई पुरालेखों में महत्वपूर्ण तथा प्रतिष्ठित मंदिरों का उल्लेख हुआ है।

1. South Indian Inscriptions, Vol. XX, Inscription No.3, C.E.. 630: Indian Antiquary, Vol. VII. p. 106
2. Ibid, No.4, D. स. 683
3. Ibid, No.5, D. स. 723: Vol,VII, p, 110
4. Ibid, No.6, D. स. 730
5. Ibid, No.7, D. स. 735
6. Karnataka Inscription, Vol 1. No.15 undated, Shiggaon, pp. 17-18
7. Ibid,No.16, D. स. 919, Shiggaon

8. SII Vol. XX, No 244 D. स. 968-69
9. Ibid, No.245, D. स. 968-69
10. Ibid, No.47
11. Ibid, No.55
12. Epigraphia Carnatika, VOI,VIII (BLR) Sorab, 428, ई.स. 1383 गिणिवल (Shimoga Dist) कई प्रदेशों के बड़े-बड़े लोगों ने शंखजिनालय को निधियाँ दी ।
13. SIL. Vol. XX. No. 232, ई.स. 1412.
14. Ibid, Vol. XX. No 321. ई.स. 1583, Records an amicable settlement of a dispute between the devotes of the Sankhajinalaya and Somnatha devalaya

तथापि, नगर के पुरालेखों में प्रथम तथा पहला नाम पाने का सम्मान शंखबसदी ने पाया है। इस प्राचीन जैन संस्था को सबसे पहले छठी सदी में दान मिला था।

जैसा कि पहले कहा गया है, पंचकूट बसति (वर्तमान ढाँचा) राजा भुवनैकमल्ल ने बनवायी थी। (1068-76) और होम्बुज में यह पहला जैन मंदिर है जिसके पाँच भाग हैं। मंदिर की बुनियाद दो सपाट वप्रों तथा पद्म पर खड़ी है। अधिस्थान भी दो तहों की जगती तथा कर्णक, कपोतपाटी और नक्रपिका से बना है और रंगमंडप में मकरों के आकार में बनवाया गया है। और इन मकरों के मुख एक दूसरे के आमने सामने हैं। और इसकी सबसे दिलचस्प बात रंगमंडप के दक्षिण में लंबा पुष्पखंड-जाल है। जिसका काफी हिस्सा अधिकतर स्पष्ट है और साथ ही इसमें एक तरह की तरतीब भी नजर आती है। लंबा तथा चौड़ा खंभ अपनी बारिकियों के साथ है उसे देखकर ऐसा लगता है जैसे बांबु की छाल से बनवाया गया हो। खुदवाया कक्षासन अपने युग की शैली का नहीं है। दालान के अंदर के खंभे सपाट श्रीकार, चित्रखंड से बने हैं जिसमें इधर उधर कुछ नक्काशी दिखाई पडती है। इसकी दुर्लभ बात इतनी ही है कि सामनेवाले दालान में रखा गया सहस्त्रकुटा। (डाकि एम, ए, : EITA: 1996-177)

“पंचकूट के जैन मंदिर के दक्षिण विमान अच्छे से सुरक्षित रखा गया है। सामान्य सा कपोतबंध आदिस्थान, अनेक शहतीरों की दीवारें, दो जोड़ी उपभद्रों के भद्र, सुभद्र के मुख पर खट्टक, शिखरयुक्त छत (जिसका शिखर नहीं है), कपिल्ल के ऊपर खुखनास आदि मंदिर की सामान्य बातें दिखाई देती हैं। उत्तरी

मंदिर के ऊपरी हिस्से में फिर से बनवाये गए भाग में जिनयुक्त मंदिर का माडल है जिसकी बगल में विष्णुकांत के छोटे स्तम्भ हैं जो उच्च दर्जे की कारीगरी को दर्शाते हैं। गूढामंडप में प्रारंभिक अवस्था की शैली में बने खंभे हैं। वर्तमान ढाँचा बारहवीं सदी के प्रारंभिक दशकों का हो सकता है।

जिन-शिल्पकला के संदर्भ में चालुक्य कई बातों में अग्रणी थे।

1. यक्ष-यक्षी की संकल्पना से पहली बार परिचित कराना तथा इस धारा को लोकप्रिय भी बनाना।
2. ऐरावत पर आसनस्थ इंद्र तथा इंद्राणी की परिकल्पना को लोकप्रिय बनाना। मीन बसदी के दाहिनेवाले मुख्य भाग में 25 मीटर लंबा वर्णनात्मक पैनल, हालाँकि अधुरा है, फिर भी उल्लेखनीय है।
3. कथ्यपरक शिल्प बनानेवालों में सबसे प्रथम, जैसे, शिल्पों पर पार्श्व, बाहुबलि, तथा अंबिका और इंद्र के जीवन को चित्रित करना।
4. उच्च गुणवत्ता की कला तथा सौंदर्य से युक्त शिल्पों का प्रतिनिधित्व करने में प्रथम।
5. पार्श्व तथा बाहुबलि से संयुक्त शिल्प का सजीव चित्रण करनेवालों में प्रथम रहे हैं, जो शिल्पकारों तथा भक्तों के पसंदीदा हो गए। जिसकी चरमसीमा की गवाह है एलोरा की जैन गुफाएँ।
6. अंबिका, ज्वालामालिनी तथा श्याम की स्वतंत्र प्रतिमा बनानेवालों में सर्वप्रथम।
7. मंजिलोंवाला मंदिर बनानेवालों में सर्वप्रथम।
8. कई घटकों से युक्त मंदिर निर्माणकारों में प्रथम।

पट्टदकल्ल का जैन नारायण मंदिर सांतरों का मंदिर है। जहाँ मंदिर के गर्भगृह में जाने से पूर्व भक्तों को मंदिर की तीन परिक्रमाएँ लेनी होती है। मंदिर का गर्भगृह, सभा मंडप, तथा लंबा मुख-मंडप बहुत ही विशाल है तथा उसके ऊपर एक और प्रार्थनागृह है, और ये राष्ट्रकूटों के शासनकाल के हैं।

सारांश

शिल्पकारों और कलाकारों ने नियमों का पालन करते हुए तथा अपने कारीगरी को अपनी परिधि में व्यक्त करते हुए जैन परंपरा का मिथकीय तथा रहस्यात्मक दृश्य दिखा दिया। उनकी भक्ति से भरी नक्काशी के कौशल्य से जैन मिथक के जगत

के सूक्ष्म अंश को ग्रहण किया। अंबिका, जिन पार्श्व, बाहुबलि, ज्वालामालिनी, तथा श्याम के मामले में कुशल शिल्पकारों ने उनके जीवन चक्र से जुड़ी पौराणिक घटनाओं को प्रशंसनीय रूप से बदल दिया। जैन परिकल्पना के मंदिर क पुननिर्माण करने के लिए प्रादेशिक तथा भारतीय मंदिर शिल्पकला की सारी प्रवृत्तियों का सुमेलन करना पडा। संक्षेप में, इस प्रकार की प्रवृत्ति को जारी करते समय जैन कला तथा शिल्पकला को बढ़ावा देने के लिए बहुत काम किया तथा इससे सबसे अधिक फायदा राष्ट्रकूटों को हुआ।

हालाँकि ईट परंपरा शिला परंपरा के साथ साथ डटी रही, फिर भी चालुक्यों ने शिला परंपरा को ईटों से अधिक मान्यता दी यह जाहिर है। पट्टदकल्ल के जैन मंदिर में एक योजनाबद्ध ईटवाला मंदिर पाया गया, जो कि इस युग का सबसे प्राचीन मंदिर है।

अध्याय नौ साहित्य

जैनधर्म, इसकी शैक्षिक तथा तात्विक अंतर्दृष्टि, चर्चा की पृष्ठभूमि पर विस्तृत रूप से फैलने वाला धर्म रहा है। जैन दर्शन के संग्रहस्थल, और उसकी प्रादेशिकता में बहुत बड़ी योग्यता है तथा भारतीय प्रादेशिकता के अधिवासिय संदर्भ में एकात्मकता लाने के लिए विविध प्रदेशों की भाषा तथा संस्कृति से विशेषाधिकार पाया। इन प्रदेशों के लोकाचारों में उनके योगदान के बारे में बढा-चढाकर कहने की जरूरत नहीं है। इन्होंने एक बृहत साहित्यिक परंपरा का निर्माण किया है। जैसा कि उत्तर में गुजरात, राजस्थान, तो दक्षिण में कन्नडनाडु तथा तमिलनाडु में इनके ऐतिहासिक अस्तित्व, सामाजिक विकास, साहित्यिक तथा कलात्मकक्षेत्र में बड़ा योगदान रहा है।

दक्षिण प्रदेश प्रमुखता से बहुत प्राचीन तथा दिगंबर परंपरा का निरंतर अधिवास होने के कारण इनका साहित्यिक योगदान इसी प्रदेश में विशेष रूप से रहा है। ह्युन चे सांग ने भी कांची तथा मडुरै में दिगंबरों तथा उनके देवकुलों के मंदिरों के होने का उल्लेख किया है। कर्नाटक में भी प्राचीन काल से ही जैनधर्म अपने साथ कला, शिल्पकला तथा साहित्य वातावरण बनाता चला आया है।

प्रारंभ से ही जैन विद्वानों ने बिना किसी विरोधी भूमिका के निरंतर वैयक्तिक कर्तव्यों को निभाते हुए, अपने तात्विक तथा दार्शनिक अन्तर्धारा से विश्व के प्रति अपनी परिकल्पना तथा व्यक्ति की परिपूर्णता को निरंतर समझाया। कला, शिल्पकला या साहित्य के क्षेत्र में उनका जो भी विवरण था, ईसा पूर्व जो भी उपलब्ध था उसको नष्ट कर दिया गया। तथापि उनका विवरण, सुव्यवस्थित रूप से ई. की प्रारंभिक सदियों से शुरु होता है।

अतः हम देखते हैं कि साहित्यिक वातावरण की प्राचीर एक ऐसी ओजस्वी तथा गतिमान शक्ति थी कि जिसने पाँचवीं सदी से शुरु होकर हजारों वर्षों तक अपनी उर्जा को बनाए रखा। बढ़ती हुई ओजस्विता में, राजसी, शाही तथा वाणिज्यिक संरक्षण में बहमुखी जैन विद्वत्ता ने अपने पंख कन्नड साहित्य की कई विधाओं में फैला दिए और परवर्ती चालुक्य तथा राष्ट्रकूटों के काल में अपनी सर्वोच्चता को बनाए रखा। फिर एक बार साहित्य को फूलने फलने के लिए एक उपजाऊ जमीन तैयार करने का श्रेय चालुक्यों को ही जाता है।

स्तुतिपद्य काव्य के संदर्भ में, पुरालेखों के प्रारंभ में रविकीर्ति के संस्कृत काव्य का ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यंत महत्व है। किसी पुरालेख का प्रारंभ किसी पावित्र्यपूर्ण स्तुति से होता था वह चाहे संस्कृत में हो या प्राकृत में या फिर किसी प्रादेशिक भाषा में वह जैन लेखक का ही था। फिर बाद में बुद्धों ने भी इस प्रवृत्ति को अपनाया और अपने अपने मतानुसार स्तुतिपद्य काव्य लिखने लगे। महाराष्ट्र के पले (पुणे जिला) के गुफा का पुरालेख, लगभग ईसा की प्रथम सदी, संस्कृत आह्वान से प्रारंभ होता है, नमो अर्हंतानामो (नागराज्य हंप, जिनेन्द्र स्तवन 2003)

दक्षिण में, ईसा पूर्व तीसरी सदी तथा ईसा की तीसरी सदी में आंध्र तथा कर्नाटक प्रदेश में सातवाहनों ने, तथा ई. स. 225 में इक्ष्वाकुस ने राजगद्दी पर आने के बाद, शासकीय रिकार्डों के लिए प्राकृत भाषा लागू की। लेकिन परवर्तियों ने संस्कृत अपनायी। प्राकृत से संस्कृत भाषा के इस परिवर्तन ने गति पकड़ ली और पल्लवों तथा कदंबों ने संस्कृत को बढ़ावा दिया। दक्षिण-पूर्वी कर्नाटक में, प्रारंभ में गंगों ने शासकीय रिकार्ड के लिए संस्कृत को अपनाया फिर बाद में छठी सदी में राजा अवनीत के काल से कन्नड भाषा अपनायी। जैसे ही आदत बढ़ने लगती है वैसे ही उसका महत्व भी बढ़ता जाता है, वातापियों के शासनकाल में कन्नड ने गति पकड़ी, और हम देखते हैं कि 100 में से 35 पुरालेख कन्नड में मिलते हैं। कन्नड को अपनाने की यह प्रवृत्ति, वातापी के शासनकाल में और भी

अधिक मजबूत होती गई और राष्ट्रकूटों के शासनकाल (755-963) में वह अपने शिखर पर पहुँचती हुई दिखाई देने लगती है। कन्नड की यह गतिशीलता कल्याण चालुक्यों के काल में 90 प्रतिशत बढ़ी। परिणामस्वरूप प्राकृत लुप्त हुई और संस्कृत केवल स्थानीय साहित्य की भाषा बनकर रह गई। कन्नड भाषा ने बादामी के शासनकाल में अपने स्थान तथा प्रतिष्ठा को इतनी मजबूती से पकड़ रखा कि उसके बाद उसने अपनी पकड़ तथा महत्व को कभी जाने नहीं दिया। हालाँकि धीरे धीरे संस्कृत की साहित्यिक गरिमा क्षीण होती गई, फिर भी परवर्ति काल में वह बनी रही किंतु कन्नड के बाद ही उसका स्थान रहा।

इस प्रकार, कर्नाटक का प्रथम वास्तविक वृत्तांत है, उसके शासक, शासन प्रणाली, संस्कृति, वाणिज्य, कला-शिल्पकला, तथा साहित्य, वर्तमान जैन मंदिरों के प्राचीन परतों में दिखाई पड़ता है जो विशाल बादामी साम्राज्य की ओर इंगित करता है। विद्वानों की अकादमी तथा विद्वानों ने, जो मूलतः अनुदेशक तथा कुलपिता थे, जिनका संरक्षण शासकों तथा व्यापारियों ने किया था, साहित्यिक भाषा का मानकीकरण किया था। कुछ महत्वपूर्ण लोगों के समय को रेखांकित करने के लिए, जिन्होंने इतिहास में अहम भूमिका निभायी थी, साहित्य तथा पुरालेखों से जैन सामग्री की जानकारी प्राप्त करना तथा अध्ययन करना अनिवार्य है। काव्य में पायी जानेवाली समकालीनता की छानबीन से प्रादेशिक इतिहास का पुनर्निर्माण करने की सुविधा प्राप्त हो सकती है।

महान युग के अतिउत्तम कवि, कवि रविकीर्ति ने (634), उन्हीं मानक साहित्यिक परंपराओं को कलमबद्ध किया जो परंपरा विद्वान कवि कालिदास तथा भास ने चलायी थी, और उनका उल्लेख वह खुले दिल से करता है। रविकीर्ति ने समंतभद्र देव (575-625 अई.) तथा पूज्यपाद (625-75 अई.) जैसे सम्मानित लेखकों की जैन कृतियाँ पढ़ी भी थी या नहीं इसका पता नहीं है। इसी प्रकार रविकीर्ति आगम साहित्य कृतियों से या पुरोहित परंपरा से कितना परिचित था यह भी अस्पष्ट है। वह कन्नड के प्रधान तथा गौण प्रदेशों में रहा करता था। अतः कोई भी यह अपेक्षा कर सकता था कि वह निश्चित ही कन्नड जानता होगा। इसके अलावा वह एक स्थानीय प्रतिभाशाली व्यक्ति था जिसे पुलकेशी ने ढूँढा था। जाहिर है कि जयकीर्ति द्वारा रचित, अविद्यमान कन्नड काव्य, संस्कृत की कृति, कर्नाटेश्वर कथा, जिसका उल्लेख चंदानुशासन में हुआ है, का लेखकत्व रविकीर्ति को ही जाता है। नागवर्म लिखित काव्यावलोकन में उल्लेखित एक कविता में

पुलकेशी के कार्य का प्रतिपादन किया गया है, संभवतः इसी कविता का उद्धरण है।

चालुक्यों ने कन्नड तथा संस्कृत दोनों को प्रोत्साहित किया। और आश्चर्यजनक बात यह है कि प्राकृत शासन तथा साहित्य दोनों में लुप्त है। अतः, कन्नड तथा संस्कृत भाषा के वर्ण बहुत ही करीने से तथा सुंदरता से खुदवाए गए हैं। आदिकदंबों के काल की तुलना में कन्नड भाषा के पुरालेख अधिक मात्रा में खुलकर इसी समय आने लगे। जीवन के हर क्षेत्र में कन्नड भाषा की उन्नतोदारता की संपुष्टी करनेवाले साक्ष्य मिलते हैं। कर्नाट यह नाम जैसे सुरक्षा की कुशलता व्यक्त करने के लिए लोकोक्ति स्वरूप ही उपयोग में लिया जाने लगा था, जैसे चालुक्यों ने अपने दल का नाम कर्नाटबल रखा था।

पंडयों ने अपने सौहार्दपूर्ण संबंध इस हद तक बनाए रखे थे कि राजा शडई (राजा नेडुंनंजडियन के दादा) को मधुरं करुनाथगन के नाम से जाना जाता है। यह उक्ति मदनंगाश्रय बुद्धवरस (650) किर्तीवर्म प्रथम (566-96) तथा पुलकेशि द्वितीय (610-42) के छोटा भाई का स्मरण कराती है। कुछ व्यक्तिगत नाम जैसे अंबेश, बुहवरस, इरियप्पा, कोक्कुलि, पोलकेशि, राहप्पा में कन्नड की खुशबू है। व्यक्तिगत नाम में जो श्ररसु परसर्ग लगता है यह संस्कृत राजन का द्रविड शब्द है। और नोडुत्ता गेल्लोम (अर्थात् जो देखते ही जीत लेता है) तथा प्रियगल्लम की उपाधि कन्नड के खास शब्द हैं।

मदनंगाश्रय यह उपाधि भी कन्नड के कर्ता प्रत्यय में से जुड़ा हुआ है। अनुपलब्ध कन्नड का एक अभिजात महाकाव्य कर्नाटकेश्वर कथा का शीर्षक भी उस प्रदेश तथा भाषा को सूचित करता है। कर्नाडेश्वर कथा में पुलकेशी द्वितीय को किसी पौराणिक पात्र के साथ जोड़ा गया है। इसलिए संभवतः उक्त काव्य का ऐतिहासिक महत्व है। अतः इस काव्य के रचनाकार जैसे कि पहले कहा गया है विद्वान कवि रविकीर्ति है...इसपर विचार करने की आवश्यकता है। क्योंकि रविकीर्ति को उक्त चालुक्य वंश परंपरा की पुरी जानकारी थी अतः ऐहोळे का प्रसिद्ध शिलालेखलिखने के बाद उसने अपनी लेखनी उक्त काव्य के लिए चलाई होगी।

पुलकेशि द्वितीय की बहू विज्जीका स्वयं को कर्नाटक-राजप्रिया कहा करती थी और राजशेखर ने अपने काव्य शास्त्र में उसे कर्नाटी कहा है। इस प्रकार कर्नाटक प्रदेश को भारत के नक्शे पर इतनी प्रखरता से रखने तथा प्रसिद्धी दिलाने का श्रेय चालुक्यों को ही जाता है।

विजय भट्टारिका ने दरबारी नर्तक परिवार के घर जन्म लिया था और अपनी शिक्षा संस्कृत में प्राप्त की थी और उसने पाच अंको वाला एक ऐतिहासिक नाटक कौमुदी महोत्सव संस्कृत में लिखा था। राजशेखर ने अपने काव्यशास्त्र में लिखा है कि विजया भट्टारिका की तरह वैदर्भी शैली में इतनी सुंदरता से काव्य रचना करने वाला कालिदास के बाद और कोई नहीं। वस्तुतः उसने कर्नाट सरस्वति की उपाधि अर्जित की थी।

महाराष्ट्र के सावंतवाडी प्रांत के नेरूर गाँव के पुरालेख से यह ज्ञात होता है कि विजय भट्टारिका उस प्रदेश का प्रशासन देखा करती थी। नर्तकियों की जाति की कई महत्वपूर्ण महिलाओं ने प्रार्थना घरों के लिए उदारता से दान किया था। सुंदर तथा आकर्षक विनापोटि राज नर्तकी ने प्राणवल्लभ का उच्च स्थान प्राप्त कर लिया था। वह, विजयादित्य सत्याश्रय श्री पृथ्वी वल्लभ महाराजाधिराज परमेश्वर भट्टारक की प्रेमिका थी। उसे हर धार्मिक संस्कार में भाग लेने का सम्मान प्राप्त था जो किसी विवाहित स्त्री को प्राप्त होता है। अतः यह उल्लेखनीय बात है कि तत्कालीन पुरालेखों में उसका उल्लेख विनापोटिगळ के नाम से किया गया है। उक्त नाम में गळ यह आदरसूचक बहुवचन रूप है जो उसके उच्च सामाजिक स्तर का सूचक है। वह अपने समय की अत्यंत अमीर अंतःपुर बाला थी जिसने मुकुटेश्वर मंदिर के लिए 800 मत्तर भूमि दान में दी थी जो साम्राज्य के पुरालेख में सबसे अधिक दान के रूप में उल्लेखित है, उसने हिरण्यगर्भ, पादुका तथा धवल छत्र का दान दिया था। बिजेश्वर की चलबूटे तथा बादी पोद्दी जो कि तत्कालीन प्रेयसी थी तथा लोक हितैषी भी थी का भी उल्लेख है जिन्होंने उदारता पूर्वक दान दिया था।

दरबारियों, शिक्षितों तथा उच्चवर्ग की भाषा संस्कृत थी। जिसे राजमहल के भीतर तथा बाहर अधिक पसंद किया जाता जाता था। जिन्होंने पुरालेखों को खुदवाया तथा लिखा था, वे चारण उभय भाषा विशारद (संस्कृत तथा कन्नड) थे। रामायण, अर्थशास्त्र तथा कालिदास के रघुवंश में प्रयुक्त शब्द तथा उक्तियाँ महाकूट के स्तम्भ शासन में प्रवेश कर गए थे। पुरालेखों की गद्य शैली हमें बाण के उपन्यास कादंबरी की याद दिलाती है।

त्रिपदी छंद में लिखे गए पुरालेखों में कप्पे अरभट्ट की अभूतपूर्व वीरता तथा सदगुणों का वर्णन एकवचन तथा देसी शैली में है। राजा मंगलेश्वर का महाकूट स्तम्भ ताम्रपत्र की रचना संस्कृत में की गई थी जो कि रविकिर्ति की होनी चाहिए



Inscription of Kappe Arabhattan sistajana-priyam, (inscribed below the mushroom-like boulder) Badami

किंतु उसका निर्धारण करने के लिए अभी भी शोध की आवश्यकता है। लेखकों के कुछ नाम जो कवि तथा लेखक थे उनका उल्लेख कवि-राजमार्ग में किया गया है वे इसी काल के थे। श्रीविजय, एक महान लेखक, जो कि बादामी, पट्टदकल्ल तथा पुलिगेरे के प्रदेश का था, और ये प्रदेश इस साम्राज्य के महत्वपूर्ण शहर थे।

तुलनात्मक दृष्टि से संस्कृत के पुरालेख संख्या तथा गुणवत्ता में अधिक उच्च है किंतु अधिकतर वे कन्नड लिपि में ही लिखे गए हैं। गंगों की तरह कई चालुक्यों के ताम्रपत्र ताम्रपत्र के हैं। शिलालेखों में आलमपुरी पुरालेख सिद्धमात्रिक लिपि में है और राजा विनयादित्य के अभिलेख नागरी लिपि में। तथापि शासकों की मातृभाषा कन्नड थी।

अबतक पाँचवीं तथा लगभग नौवीं सदी में रचित कन्नड कविताएँ प्रकाश में आयी हैं। इसके चरण शैलीगत विभिन्नता तथा भिन्न-भिन्न अनुप्रास लिए हुए हैं। वे कंद, वृत्त, प्रियकर तथा त्रिपदी छंदों में रची गई हैं, इसके अंतिम दो छंद देसी हैं। वृत्त छंद में लिखी गई कविताएँ, सामान्यतः प्रसिद्ध कर्नाटक वृत्तों में लिखी गई हैं, साथ ही अभिजात काव्य में भी इस प्रिय वृत्त का उपयोग किया गया है। गुंडलहळ्ळि पुरालेख (760) के कन्नड लेखक दिव्य भाषाकलन के बारे में विशेष जानकारी नहीं है। विज्जिका राजकुमार चंद्रादित्य की प्रिया ने कौमुदी महोत्सव नामक नाटक संस्कृत में लिखा। ये दोनों रविकीर्ति के परवर्ती साहित्यकार थे। पूर्वी कदंबों के काल में कोई कन्नड काव्य की रचना न होने के कारण कन्नड काव्य को फूलने फलने का गौरव या तो गंगों को या चालुक्यों को मिलता है या फिर इसका श्रेय एक मात्र बादामी शासनकाल को जाता है।

रविकीर्ति— एक आदर्श कवि

संस्कृत साहित्य में गद्य, पद्य तथा नाटकों में उत्कृष्ट साहित्य की रचना पहले ही हो चुकी थी। संस्कृत साहित्यकारों के लिए यह एक उत्तम क्षण था कि वे अपनी सृजनात्मक प्रतिभा को परख सकें और इसके लिए उनके साथ वातावरण भी था। यह एक ऐसा परिदृश्य था कि रविकीर्ति एक सुंदर राजनीतिक इतिहास तथा साहित्यिक उत्कृष्टता में पहली तथा स्वच्छ साँस की तरह अवतरित हुआ और एकदम नये तथा बेजोड़ पुरालेखिय काव्य का अग्रदूत बना। परवर्ती कन्नड कवियों

ने अपने राजा के राजनैतिक इतिहास को अभिलिखित करने हेतु रविकीर्ति के संस्कृत ताम्रपत्र से होड ली थी।

जिननंदी, जैन धर्मानुयायी सिंह सेनापति के पुत्र ने पाँचवी सदी के अंतिम दशक (ई. स. 485) में केकेय चित्रसेन महोकेला के होत्रावर पत्र की रचना की थी। काव्यगत उत्कृष्टता कसौटी होने के कारण, एक प्राचीन कवि होने के नाते चालुक्यों के दरबारी कवि रविकीर्ति इस पर खरा उतरा तथा न केवल अपने युग का जैन धर्म मतवादी बल्कि पूरे कर्नाटक का आदर्श कवि था। गुंडल हल्ली पुरालेखिय साक्ष्य के अनुसार कन्नड भाषी कवि दिव्य भाषाकलन ई. स. 760 का था। इस प्रकार वह चालुक्यों का अंतिम कवि तथा राष्ट्रकूटों का प्रथम कवि हो सकता है। किंतु उसकी कोई भी कृति ज्ञात नहीं है।

मेगुडी जैसे विशाल जैन प्रार्थनागृह का निर्माता, अतुलनीय क्षमता का राजनेता रविकीर्ति साहित्य के क्षेत्र में भी उतना ही महान था जितना एक महान जैन भक्त भी। उसकी रचना के दो उत्तम उदाहरण हैं एक मेगुडी का प्रार्थनागृह तथा दूसरा उच्च काव्यात्मकता से परिपूर्ण संस्कृत पुरालेख। पुलकेशी का विश्वासपात्र मित्र राजकवि रविकीर्ति का गौरवशाली ऐहोळे का शिलालेख, संस्कृत की अभिजात कृति है। जिसके धाराप्रवाह पद अप्रतिम हैं। पुलकेशी तथा उसके दादा परदादा, साहसी तथा उदार थे और सफल युद्धों के महान वीरयोद्धा थे। लेकिन रविकीर्ति के ऐहोळे प्रशस्ति पुरालेख में चालुक्य साम्राज्य का इतिहास सुरक्षित है तथा उनकी उपलब्धियाँ चित्रों में वर्णित हैं। ऐहोळे के शिलालेख पुलकेशी द्वितीय तथा उसके पूर्वजों का अन्य प्रदेशों का शोषण तथा उनके साहसी विजयों का जीवंत स्मारक है।

वह पुरालेख विशुद्ध संस्कृत में लिखा गया है और जो सातवी सदी के कन्नड-तेलगु अक्षरों में 19 पंक्तियों का है। जिससे इसके लेखक रविकीर्ति को संस्कृत के महान साहित्यकार कालिदास तथा भारवी की कोटी में ला खड़ा किया और फिर यह सबसे प्राचीन पुरालेख है जिसमें कलियुग की तिथि को अभिलिखित किया गया है; जो शक युग के बराबर है, अर्थात् कलिकाल 3735= शक 556 जो ई. 634-35 के बराबर है।

जनानखाने अथवा रनिवास की कुलीन महिलाएँ राज्य तथा जनता के कल्याण का कार्यभार संभालती थीं। जो महिलाएँ आवासों में रहती थीं वे जनकल्याण में भाग लेती थीं तथा सांस्कृतिक कार्यक्रम को प्रोत्साहन दिया करती थीं।

कशायपाहुड (संस्कृत- कश्यप्राभृत) तथा छकंडागम (संस्कृत-षट्खंडागम) का ज्ञान, का मूल प्राचीन आगम साहित्य आग्रायणिय के दूसरे पर्व में है जिसमें कर्म पर विशेष विचार किया गया है जिसका जैन दर्शन से संबंध है। विद्वान धरसेनाचार्य ने अपनी अभिलेखिय विद्वता, दक्षिण के अपने दो अष्टपैलु शिष्य पुष्पदंत तथा भूतबलि को सौंपी थी, जिन्होंने बदले में सत्तप्रारुपण उपनाम षट्खंडागम की रचना 6000 सूत्रों में की। पुष्पदंत ने केवल प्रथम 177 सूत्रों की रचना की और शेष 5823 सूत्रों की रचना आचार्य भूतबलि ने की। इसी के साथ साथ जैन परंपरा में आनेवाले कुछ विद्वान जैन संतों ने भी विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखे। इन भाष्यकारों में से समंतभद्र, श्यामकुंद, तुंबलूर, बप्पदेव तथा कोंडकुंद आदि अपने काल के प्रसिद्ध लेखक थे। हालाँकि ये भाष्य आज विद्यमान नहीं हैं। ऐसा माना जाता है कि कोंडकुंद की व्याख्या का नाम परिक्रमा होगा। आखिर सम्मानित वीरसेन तथा जिनसेन आचार्य दोनों शिष्य और आचार्य जिन्होंने विद्यमान धवल तथा जयधवल व्याख्याओं की रचना मनिप्रवल शैली में की है, जो प्राकृत तथा संस्कृत के मिश्रण से बनी है। पंचस्तूप अन्वय के तपस्वी वीरसेन ने ई. स. 816 में धवला भाष्य को 72,000 ग्रंथों में पूर्ण किया। यह ग्रंथ 36 अक्षरों की एक इकाई है। आश्चर्यजनक बात यह है कि तपस्वी वीरसेन ने अकेले पूर्ण किया।

एक अन्य ग्रंथ कशायपाहुड की रचना गुणधर ने की जो इसी प्रकार का था और उतने ही महत्व का था। (इ.उ. द्वितीय सदी)। 233 ग्रंथों की यह कृति क्रोध, मान, माया तथा लोभ, चार कशाय, जो कर्मबंधन तक ले जाते हैं। यति-वृषभ जैसे आचार्य तथा उच्चारणाचार्य आदि ने कशायपाहुड पर भाष्य किया किंतु बाद में आचार्य वीरसेन ने अपनी श्रेष्ठ कृति धवल पर 72,000 ग्रंथों (अक्षर परिमाण) में भाष्य लिखने का काम पूर्ण करने के बाद कशायपाहुड पर बृहत भाष्य लिखना शुरु किया। (कशायप्राभृत-पेज्जदोस-पाहुडा) किंतु वीरसेन ने केवल 20,000 ग्रंथों की रचना की। तथापि, उसके प्रतिभाशाली शिष्य तथा लेखक जिनसेन ने शेष 40,000 ग्रंथों में 'जयधवल' नाम से भाष्य लिखना शुरु किया तथा पूर्ण भी किया। इस प्रकार 'जयधवल' कुल 60,000 ग्रंथों का है।

छठी सदी के उत्तरार्ध तथा आठवीं सदी पूर्वार्ध के मध्य जिन्होंने 'तत्त्वार्थ-सूत्र' तथा 'षट्-खंडागम' पर जो भाष्य लिखे, वे लेखक चालुक्य प्रदेश के निवासी थे। इस प्राचीन साहित्य के भाष्य जो आज उपलब्ध नहीं हैं फिर भी इसने निश्चित रूप से दक्षिण में साहित्य को एक गरिमा दी थी। इन लेखकों को आज भी याद किया

जाता है इसलिए नहीं कि वे दक्षिण के थे बल्कि इसलिए भी कि ये छठी तथा आठवीं सदी के मध्य के हैं। यह वही काल है जब चालुक्यों ने दक्षिण प्रदेश पर अपना शासन किया था। विद्वत्ता तथा व्यवस्थित अभिव्यक्ति से परिपूर्ण, प्राचीन विद्यमान तथा ज्ञात कृति षट्खंडागम ने अपने समग्र साहित्य में ऊपर उल्लेखित सभी लेखकों के भाष्यों को सम्मिलित कर लिया है।

के.वी. सौंदर राजन ने इस काल के जैन, विशेषकर जैन साहित्य पर जोर देते हुए कहा है कि, “ कई सारे उपलब्ध साक्ष्य यही दर्शाते हैं कि चालुक्य के शासन काल में जैनधर्म के विकास अत्यधिक हुआ। कदंबों ने जैनधर्म के कई संप्रदायों को संरक्षण दिया। जैसे, श्वेतप महाश्रमणम संघ (श्वेतांबर), निर्ग्रंथ संघ, यापानिया संघ, मूल संघ, (दिगंबर) तथा कूरचक संघ। फिर जैनधर्म चालुक्यों के नए नगरों में चल पड़ा, इसके साक्ष्य हैं, ऐहोळे की जैन गुफा (मेणबसदी) तथा बादामी गुफा नंबर चार, तथा ऐहोळे का मेगुडी मंदिर (ए.डी 634)। इस काल के महान जैन मताधिकारियों ने जो महान कार्य किया है वह हम तक पहुँच पाया है। उनमें से दिगंबर शाखा के पूज्यपाद देवन्दी (सी. ए.डी 625-7675) की कृति ‘सर्वार्थसिद्धी’ वाचक उमास्वाति (ई. चौथी-पाँचवीं सदी ए.डी.) लिखित ‘तत्त्वार्थ-सूत्र’ का भाष्य है। वाचक उमास्वाति श्वेतांबर शाखा के एक संप्रदाय उच्चैस्नागर शाखा के थे, जिनका संस्कृत व्याकरण जिसे जैनेंद्र कहा जाता था, उनकी भौतिक रहस्यवाद की काव्यात्मक कृति समाधितंत्र और कुछ अन्य गहन दार्शनिक दृष्टिकोण से लिखी गयीं कृतियाँ जैसे इष्टोपदेश आदि आते हैं। एक अन्य कृति, रविसेन ने विमलसूरी का प्राकृत में लिखा षडमचरिय संस्कृत में षडचरित्र के नाम से अनुदित किया” ।(ए. डी 677-678)। यापनीया संघ के संत जथा सिंहन्दी ने सातवीं सदी के पूर्वार्ध में प्रसिद्ध वरांगचरित लिखा। तिलोयपण्णति (सं. त्रिलोकप्रजनपति) की रचना भी इसी काल में हुई संभवतः ए. डी. 542 के तुरंत बाद। यापनीया व केर का मूलाचार का श्रेय भी इस युग को जा सकता है। कर्नाटक में इस काल के दौरान दिगंबर जैन संप्रदाय अन्य जैन संप्रदायों से उच्च स्तर पर था।

प्राचीन किंतु ज्ञात कवयित्री विज्जिका इसी काल की थी। राजकुमार चंद्रादित्य की महारानी विज्जिका ‘काव्यादर्श’ के रचयिता संस्कृत आचार्य दण्डी की समकालीन थी ।

कन्नड का केंद्रीयस्थान

कर्नाटक के पुरे नक्शे को नापने के बाद अपूर्व तथा असाधारण 'कविराजमार्ग' के लेखक श्रीविजय (865) ने फिर एक बार यह निश्चित किया कि दक्षिण में कावेरी नदी तथा उत्तर में गोदावरी नदी के मध्य जो विशाल प्रांत है वह कन्नडनाडु अर्थात् कर्नाटक है और इस प्रांत के चार प्रमुख नगरों के मध्य का प्रदेश कन्नड भाषा का केंद्रीय स्थान था। जहाँ राज शासन द्वारा पारित कन्नड भाषा बोली जाती थी। स्वाभाविकतः क्षेत्र की भाषा विद्वानों की भाषा बन गई। दिलचस्प बात यह है कि दक्षिण के गंग तथा राष्ट्रकूट विद्वान तथा उत्तर के परवर्ती चालुक्य कवि सजातिय साहित्यिक मुहावरों का प्रयोग करते थे। बाद में होयसल युग के लेखकों ने भी इसी मानक भाषा का प्रयोग किया। इस प्रकार पुलिगेरे की भाषा या फिर संक्षेप में कहना हो तो केंद्रीय स्थान की कन्नड भाषा जिसमें कन्नड की सुगंध मिलती, राजनीतिक परिवर्तन के बावजूद पाँच सौ वर्षों तक साहित्यिक जगत में इस का प्रभाव बना रहा।

श्रीविजय (865) ने किसुवोळाल, पुलिगेरे, प्रसिद्ध महानगर कोपण-नगर तथा बहुप्रशंसित ओनकुंडा के मध्य का प्रांत राष्ट्रकूट साम्राज्य का उत्तम तथा केंद्र भाग माना गया है, जहाँ कन्नड की सुगंध खिलती गई। यह महत्वपूर्ण नगर ऐहोळे, बादामी, आडूर, परलूर तथा हुल्ली से बहुत दूर नहीं थे। कन्नड भाषा जैन कवि तथा दार्शनिकों के कारण साहित्य की अभिजात्य भाषा के रूप में फूली फली, जो इन महानगर के साहित्यिक तथा सांस्कृतिक से जुड़े थे। ये प्रमुख स्थान जैन सांस्कृतिक केंद्र थे।

पुलिगेरे, पुलिगेरे के प्रभाग 300 (ग्रामाणां त्रिशतैरवता) की राजधानी थी। इस स्थान पर विद्यमान आधे से अधिक पुरालेख जैनधर्म से संबंधित थे तथा राजघरानों द्वारा जैन मंदिरों को दिए गए उदार दान के बारे में दिल खोलकर प्रशंसा करते हैं। बेलवोल 3000 की राजधानी अण्णिगेरे भी उतनी ही प्रचीन है और दोनों पाँच सौ साल पुरानी है और इन दोनों शहरों की कहानी छठी सदी से शुरू होती है। इस क्षेत्र की उपजाऊ जमीन का कुछ ऐसा वैशिष्ट्य है कि जिससे वह मानक-कन्नड भाषा का केंद्र प्रदेश बना जिसका चुनाव श्रीविजय, पम्प तथा रन्न आदि महाकवियों ने किया था।

दुर्लभ संयोग के समान, श्रीविजय (865) दो सौ सालों के बाद भी इन महानगरों के बारे में यही कहता है कि ये महानगर उस वक्त के राष्ट्रकूटों का केंद्रबिंदु था।

चौकानेवाली बात यह है कि ये महत्वपूर्ण महानगर तबतक राजनीतिक- सांस्कृतिक गतिविधियों का केंद्रबिंदु बने रहे हैं जबतक कि कल्याण के चालुक्य से अलग हो गए। इस प्रकार बादामी के शासकों ने इन केंद्र स्थानों को चुना जो सगोत्र राजाओं का वंश खतम होने तक केंद्र में बने रहे।

आडूर के अभिलेख अत्यंत महत्वपूर्ण हैं क्योंकि ये अभिलेख आठवीं सदी में प्रचलित प्राचीन कन्नड का नमूना पेश करते हैं। इत्तोर सलिप्पोर, किडिप्पोर आदि क्रियाएँ ध्यान देने लायक हैं। अवर्ते धर्म तथा अवर्दड़ पापं. गुरोर, गुराव आदि परसर्ग वसुदेव तथा प्रभाचंद्र परवर्ती पुरालेख के गौरव के विभिन्न रूप हैं। (Karnatak Inscriptions, Vol. 1. No. 3. p. 5. Adur Inscriptions).

विद्वानों की एक प्रवृत्ति थी कि वे व्यक्ति तथा संस्थानों के नामों का संस्कृत रूपांतरण किया करते थे। जैसे विज्जिक्का अथवा विजयभ रिका, विजयक्का इस नाम का संस्कृत रूपांतरण है। भारतीय या देसी भाषा में उपयुक्त नामों तथा स्थानों के नामों का संस्कृत रूपांतरण करने की इस प्रवृत्ति के कारण कवयित्री विजयक्का विज्जिक्का नाम से अभिलेखों में जानी गई। मंगलअरस (मंगळ राजा) का संस्कृत नाम मंगलेश का अक्सर प्रयोग होता नज़र आता है। किसुवोळाल तथा पुलिगेरे का संस्कृत नाम भी रक्तपुर तथा व्याघ्रपुरा है।

अण्णिगेरे के बनशंकरी मंदिर के सामने वाले के स्तम्भ पर बने पुरालेख में जेबुलगिरि के गामुंडा कलियम्मा द्वारा बनाए गए चेदिया जैन मंदिर का स्मरण किया गया है और यह पुरालेख राजा कीर्तिवर्म द्वितीय के शासनकाल का है जो उसके शासनकाल के छः साल बाद का है। (751) राजा कीर्तिवर्म के सम्मान में कौंडीशुरल कुप्प के द्वारा बनाए गए गोसास शिल्प बनाने का उल्लेख भी पुरालेखों में किया गया है। दिशापालों द्वारा खुदवाए गए पुरालेखों की भाषा प्राचीन कन्नड भाषा के उदाहरण प्रस्तुत करती है जैसे, आरनेया, निरिसिदा, लिंगवाचक प्रत्यय लंबे हुए जैसे आ। इसी प्रकार, माडिसिदान का प्रयोग प्राचीन नमूना है।

बनवासी कदंबों के शासनकाल के दौरान प्राकृत भाषा ने, साहित्य ही नहीं, संस्कृत के पर्याय के रूप में राजभाषा का स्थान पाया। कदंबों के उत्तराधिकारी वातापी चालुक्यों ने प्राकृत भाषा का तिरस्कार किया और उसे दूसरा स्थान भी नहीं दिया। किंतु चालुक्यों के उत्तराधिकारियों के काल में प्राकृत साहित्य फूला फला। अतः भाषागत उतार-चढ़ाव पर विचार करना भी आवश्यक है।

तत्कालीन युग के सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का अध्ययन करने के लिए ये जैन पुगलेख उल्लेखनीय है। परंपरा के अनुसार इनका प्रारंभ 'जिन' को आह्वान करने से होता है।

वर्धतां वर्धमानेदोर वर्धमान गणोदधेः

शासनं नाशित रिपोरभासुरं मोह शासनं।

(गोकाक पत्र ई 532- El. Vol. XXI No.pp. 289-92)

वर्धमान का नष्टप्राय होता उज्वल शिलालेख, जो कि वर्धमानगण का चंद्रमा है जो अपना सार वैभव ले गया।

विस्तीर्ण ज्ञान नेत्रेण यः पश्यति जगत त्रयम

स जयति अमरेन्द्रनः शांतिदस-शांतिर ईश्वरः॥ (1)

स्वर्गापवर्ग सौख्यानि देहिनो येन भुंजते।

सधर्मो जयति श्रेयान सत्य निष्ठस-सदा-अर्हतमा॥ (2)

(हूल्लि पत्र, C.E. 600)

शांतिनाथ जिन अपनी सर्वज्ञ व्यापक नेत्रों से तीनों जगत को ग्रहण करता है और वह शाश्वत ईश्वर शांति प्रदान करता है। (1)

धर्म, शाश्वत सिद्धान्त तथा अर्हतों का विश्वास, आध्यात्मिक सदगुणों तथा सत्य में गहरी जड़ें जमा चुका है। जिसके अभ्यास से मानवजाति स्वर्ग के सुख तथा परम मुक्ति को प्राप्त करता है। (2)

जयत अतिशय जिनैर-भासुरसुर वंदितः

श्रीमान जिन पतिः श्रिश्ठेर-आदेः कर्तादयो दयः।

(SH. Vol. XX. No. 3 D. स. 630 Puligere: KI. Vol. V No. 3 Gadag Dt.

Shirahatti TK.)

भगवान जिन विजयी हों, जो जिन (महानता) से दमक रहा है, जिसे देवता प्रणाम कर रहे हैं, जो कि प्रथम सृजन का सृजनकार है तथा जो करुणाकर है।

जयति भगवान- जिनेन्द्रोवीतजरा मरण जन्मनो यस्या।

ज्ञान समुद्रांतरगतम् अखिलन जगद अंतरीपं-इवा॥

(El. Vol. VI. D. स. 634. Aihole inscription of Ravikirti)

पवित्र जिन की विजय हो, जो वृद्धत्व, मृत्यु तथा जन्म से परे है, जिसके ज्ञान के सागर में सारा जगत एक द्वीप की तरह समा गया है।

आडूर का शिलालेख महावीर के आह्वान से प्रारंभ होता है। यह बात ध्यान देने की है कि पुलिगेरे तथा ऐहोळे के पुरालेख का प्रारंभ जिन की वंदना से होता है किंतु उसमें जिन का नामोल्लेख नहीं है।

जयति अनेकथा विश्वं विवुरुणवननअंशुमान-इवा
श्री वर्धमान-देवो नित्यं पद्य प्रबोधनः॥

(KI. Vol. I. No. 3. 75. Adur)

वर्धमान की विजय हो, जिसने इस विश्व को बहुविध रूप में दर्शाया, जिसने रोज़ सूर्य के समान, कमल को भी खिला दिया।

जयति जगदेक भानुः स्याद्वाद गभस्ति दीपितं येन
परसमय तमिर पटाल साक्षातकृत सकल भुवनेना

वह विजयी है। वही तो एक मात्र इस जगत का सूर्य है जिससे स्यादवाद की किरनें प्रकाशमान हो उठीं, जिससे सकल जगत को विरोधियों के अंधेरे से मुक्त किया।

जितम भगवता श्रीमद्धर्म तीर्थ विधायिना
वर्धमानेन संप्राप्त सिद्धि सौख्याममृतात्मना
लोकालोक द्वयाधारं वस्तु स्थास्नुचरिरनुवा
संविधालोक शक्तिः स्वाव्याश्रुनते यस्य केवला॥

(EC. Vol. II (R) No. 1. C. 600 D. S. Shravanbelgola)

दिव्य पवित्र मत की स्थापना करने वाले वर्धमान ने विजय प्राप्त की और यह मत आनंदामृत से समाविष्ट था। और यह आनंदामृत उनको परिपूर्णता से प्राप्त हुआ और उनकी यह सर्वज्ञता तो त्रैलोक्य से समावेशित है।

जैन पुरालेखों के प्रार्थना श्लोक अप्रतिम काव्य रचना है तथा जैन मंत्रों को समझने के महत्वपूर्ण स्रोत हैं। कुछ लोगों ने इन संस्कृत पदों को मध्यकाल में सुना था जो प्रार्थना पदों के रूप में लोकप्रिय रहे हैं। मंत्रों के समान आध्यात्मिक महत्व के पद जैन भक्तिस्थल के कृपा तथा ज्ञान की निधि हैं। यह ज्ञाननिधियाँ जनता तक पहुँचाने के लिए रची गयी थीं। इन प्रार्थनाओं की विषय वस्तु भक्ति और करुणा है। जब कभी लोग रीतिबद्ध तरीके से प्रार्थना के लिए इकट्ठे होते हैं

तो इनमें से कुछ तो तुरंत गाये जाते हैं। ये श्लोक मन तथा हृदय को एकाकार कर देते हैं और दिव्यता को ग्रहण कर लेते हैं। (नागराज्जय्य हंप: 2003: 16).

पाँचवी, छठी तथा सातवीं सदी के प्राचीन पुरालेख संस्कृत तथा कन्नड भाषा में लिखे गए और वे भाषा वैज्ञानिक तथा सुलेखन का उमदा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। वे जितने ऐतिहासिक तथा धार्मिक महत्व के हैं उतने ही कर्नाटक के विभिन्न प्रदेशों में जैन मत के प्रसार के लिए हैं। और आश्चर्य की बात यह है कि पाँचवी तथा छठी सदी में पुरालेखिय भाषा के रूप में कन्नड ने न केवल प्राकृत का बल्कि संस्कृत का भी स्थान ले लिया। हालाँकि संस्कृत का उपयोग पुरालेखों में होता ही रहा, किंतु कन्नड जैनधर्म के पुरालेख की प्रमुख भाषा हो गई।



**Jinendra Bhavana ,
Aihole, 624 CE**

अध्याय दस

उपसंहार

चालुक्यों ने ई छठी से आठवीं सदी तक दक्षिण में शासन किया। उन्होंने कर्नाटक को अपने सेनाबल, प्रशासनिक योग्यता तथा सामाजिक-सांस्कृतिक योगदान से प्रस्तुत किया। प्राचीन किले, गुफा मंदिर तथा पुरालेखों में उसकी प्राचीन भव्यता का प्रकाश दिखाई देता है।

बादामी चालुक्यों का युग दक्षिण में, अपने युद्ध तथा शांति में अपने समय का उल्लेखनीय युग रहा है। पूर्व में तेलगुदेस तथा उत्तर-पश्चिम के लाट प्रदेश को छोड़कर, उनकी राज शक्ति का उदय तथा विकास दो समुद्र के मध्य के समस्त भूभाग पर वास्तव में एक स्वतंत्र साम्राज्य के रूप में उभरा।

चालुक्यों ने बादामी के साथ एक नए साम्राज्य की स्थापना और पुलकेशी ने हर्षवर्धन के विरुद्ध अपने साम्राज्य का निर्माण ऐसा किया कि वह अपने साम्राज्य को विंध्य तक ही सीमित रखें। बनवासी के कदंबों तथा गंगों से अधिक चालुक्य ही थे कि जिन्होंने उत्तर तथा दक्षिण के पड़ोसियों से कई युद्ध जीते। चालुक्यों ने दो क्षेत्र आदिकदंबों तथा आदिगंगों को एक ही श्वेत-छत्र के नीचे लाने तथा

दक्षिण की सीमाओं को फैलाने का दुर्लभ वैशिष्ट्य अर्जित किया। अतः कई छोटे मोटे शासन विशाल चालुक्यों के साम्राज्य में मिल गए।

कर्नाटक के दुर्ग कुल चार भागों में वर्गीकृत किए जा सकते हैं जैसे जलदुर्ग गिरिदुर्ग, वनदुर्ग, तथा भूमिदुर्ग। बादामी में पाये जानेवाले दुर्ग गिरिदुर्ग कहलाते हैं।

बादामी शहर के बाह्यवृत्त पर जो दो मजबूत दुर्ग बने हैं वे उत्तर तथा दक्षिण में अच्छी तरह से बने हुए हैं। सामान्यतः इन दुर्गों को बावन बंडे कोटे (बावन पत्थरोंवाला दुर्ग) तथा रणमंडल कोटे (युद्धभूमि दुर्ग) कहते हैं। दो पहाड़ियों के मध्य जो सरोवर बना है वह भी उतना ही प्राचीन है जितना कि दुर्ग है, भले ही पहाड़ी ना भी हो। बडि बडि चट्टानों पर बने दुर्ग पत्थर से जोड़े गए हैं। जो दक्षिण में आज भी विद्यमान है। पुलकेशि प्रथम, दुर्ग के प्रथम वास्तुकार ने ई. 543 में पहाड़ी की ढलान के मध्य भाग में बनवाया जिससे इस दुर्ग को झूलते दुर्ग का सौंदर्य प्राप्त हुआ। बाद में उनके उत्तराधिकारी राष्ट्रकूटों ने भी इन दुर्गों में कुछ न कुछ जोड़ा और बढ़ाया।

भारतीय कुल के चालुक्य, अपने अंधकार से जाग उठे, इसके लिए वीर जयसिंह (पुलकेशि प्रथम के दादा) को धन्यवाद देना चाहिए। पुलकेशी प्रथम के परदादा जयसिंह, अभिमन्यु के सामंत ने मानपुर के राष्ट्रकूटों का साम्राज्य कृष्ण के पुत्र इंद्र को पराजित कर छीन लिया। देज्ज महाराज, कृष्ण के परपोते और संभवतः इंद्र के पुत्र ने चालुक्यों के आधिपत्य को संभाला। दो सौ साल बाद इतिहास दुहराया गया और फिर एक बार राष्ट्रकूटों ने अपना साम्राज्य पाया और खो भी दिया। पहले उन्होंने अपना छोटा सा प्रदेश खो दिया, किंतु अब दंतिदुर्ग तथा उसके पुत्र ने पुनः उस विशाल साम्राज्य को पाया, जैसे कि मूल के साथ सूद भी पा लिया हो। इसी के साथ, बडे तथा विद्वान उत्तराधिकारी शासकों ने उसे एक राजसी साम्राज्य बना दिया, जो एक हृष्ट-पुष्ट साम्राज्य की रीढ़ की हड्डी जैसे थे। यह तो सर्वविदित है कि कई चालुक्य पुरालेख प्रमुख शासकों के शासनकाल के दौरान का है। कर्नाटक में शक वर्ष का नाम के साथ प्रथम उल्लेख का श्रेय पुलकेशी प्रथम के बादामी के चट्टान पर लिखे गए पुरालेखों को जाता है, जिसकी तिथि है शक 465 (सीई 543), जिसमें राजा द्वारा वातापी के पहाड़ी की मोर्चेबंदी का उल्लेख किया गया। कहीं पर देवसेना के हिस्से बोरला पुरालेख को प्राचीन माना गया है, वाकाटक प्रमुख, जिसने शक वर्ष का उल्लेख शक वर्ष 380 किया है जो कि ई. स. 458 के बराबर है।

अबतक हम ने इन तथ्यों की जानकारी प्राप्त की है कि जिन राजवंशों ने कर्नाटक का शासन किया उनमें से बादामी के चालुक्य शक्तिशाली राजवंश था उन्होंने एक सशक्त तथा कौशलपूर्ण राजवंश का निर्माण किया जो दो सौ साल तक अजेय बने रहे। चालुक्यों ने अपनी सेना को संपूर्ण कर्नाटक की फौज का कर्णधार बनाया, जो कि निश्चित ही बुद्धिसंगत था। कवि तथा पुरालेख, पुलकेशी द्वितीय के शासन का संदर्भ देते हैं जो कि चक्रवर्ती की संकल्पना का गहरा पुट है। इसीप्रकार यह भी उल्लेखनीय है कि वे कर्मठ तथा समृद्ध कर्नाटक के प्राचीन शिल्पकार थे जिन्होंने लोकप्रियता के दालान में आला खुदवाया। कला, शिल्पकला तथा साहित्य चालुक्यों के ही छत्र के नीचे फूला फला। उन्होंने अपना प्रभुत्व सीमापार फैलाया, कर्नाटक की संस्कृति को दक्षिण पूर्व आशिया तक फैलाया। कल्याण, वेंगी, वेमुलवाड के चालुक्य प्रमुख स्तम्भ की परवर्ती शाखाएँ थीं।

अनुवंशिक राजतंत्र तथा जेष्ठ पुत्र को ही उत्तराधिकारी बनाना सरकार का प्रचलित रूप था। जब राजगद्दी को कोई उत्तराधिकारी नहीं मिलता तब कुछ विशेष परिस्थितियों में यह अधिकार किसी योग्य व्यक्ति को दिया जाता है। ऐसे में उस व्यक्ति की सक्षमता, योग्यता तथा चरित्र एक बहुत बड़ी कसौटी होती है। उदाहरणार्थ, विक्रमादित्य प्रथम, भले ही पाँच भाइयों में चौथे क्रमांक का था किंतु उसने अपनी कुशलता, सक्षमता तथा बल के कारण चालुक्यों की राजगद्दी पर अपना अधिकार पाया।

पुलकेशी द्वितीय का अभिवादन, दक्षिणापथ-पृथ्वियाःस्वामी से किया जाता था, जिसकी पूर्ण उपाधि थी, सत्याश्रय-श्रीपृथ्वी-वल्लभ-महाराजाधिराज-परमेश्वर-भट्टारक, जिसने एक चक्रवर्ती की तरह कर्नाटक प्रदेश को चक्रवर्ति क्षेत्र का केंद्रीय प्रदेश बना दिया। उसके बाद कर्नाटदेस का सम्राट, वल्लभ की उपाधि से जाना जाने लगा तथा शाही सेना कर्नाटक बल के नाम से जानी जाने लगी। इसप्रकार कर्नाटक का साम्राज्य बना रहा केवल राजवंश बदलते गए और वे कर्नाटक के साम्राज्य पर शासन करते रहे।

पुलकेशी द्वितीय के चले जाने के बाद एक राजनीतिक रिक्तता छाई रही। तथापि, कर्नाटक के राजनीतिक भूगोल पर छाए बादलों को दूर करने के लिए आत्मविश्वासी विक्रमादित्य फिर एकबार अपनी शक्तिग्रहण कर ली ताकि वे चालुक्यों के आधिपत्य पुनर्स्थापित कर पायें।

अपना आधिपत्य थामकर उसने कई छोटी छोटी रियासते चालुक्यों के अधिन लायी। कोई भी शाही राजवंश राजनीतिक बल का अपवाद नहीं है। राष्ट्रकूटों की शक्ति, जो दिन ब दिन बढ़ती जा रही थी, और वे दो सौ साल के लिए अजेय और अभेद्य बन गए, जैसे कि यादवों में कृष्ण के जन्म के बाद। चालुक्य अपनी पराजय से उबरने के लिए चिंतित थे और उनको दो सौ साल अज्ञातवास में जाना पडा ताकि वे फिर संग्रहित होकर अपना बल इकट्ठा कर प्रतिकार कर सकें। हैरानी की बात है कि राष्ट्रकूटों को कुचलने तथा उनपर आधिपत्य करने के लिए उनकी अव्यक्त शाही क्षमता उचित अवसर आते ही सामने आयी। चालुक्यों ने एक विशाल प्रदेश, जो चार महासागर से बंधा था, का अधिपति बनने की शाही आभा अर्जित की और एक नए स्वर्णिम युग (दसवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक) का आरंभ किया।

रणधीर तथा रणराग जैसी गौरवशाली उपाधियों को चालुक्यों तथा सांतरो ने नियोजित किया। संभवतः तमिलनाडु के पाण्ड्य भी इसप्रकार की पदवियों के शौकीन थे, प्रारंभ में वे अपनी नामपद्धति में इस प्रकार के विशेषणों का इस्तेमाल किया करते थे। हमें कुछ नाम मिलते हैं, जैसे शादियन कोच्चदैन्यन रणधीर (794-800) अरिकेसरी का पुत्र असमसम मारावर्म रणराग।

चालुक्यों का इतिहास पुरातात्विकों को तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक-धार्मिक परिस्थिति के साथ साथ कला, शिल्पकला, तथा साहित्य के इतिहास पर अनुसंधान करने के लिए सुविधा प्रदान करता है। इस काल के दौरान, कुछ व्यक्तिगत नाम उनके संक्षिप्तीकरण से बहुत लोकप्रिय हुए, जैसे, सोमशेखर प्रथम का पुत्र विक्रमादित्य बिक्की के नाम से जाना जाता था। उसी प्रकार से विजयादित्य का पुत्र विक्रमादित्य बिक्की नाम से जाना जाता था। कीर्तिवर्मन का उपनाम था किरस तो कार्तवीर्य का उपनाम था कल्लम अथवा कल्ला।

चालुक्यों ने एक अच्छे प्रशासन तथा पडोसियों से सौहार्दपूर्ण संबंध स्थापित कर उसका आनंद लिया जो कि उनके उत्तराधिकारियों ने आदर्श परंपरा के रूप में पाया।

प्रत्येक महत्वपूर्ण राजा के दरबार में कवि-विद्वानों की नियुक्ति करने में चालुक्य अग्रणी माने जाते हैं। रविकीर्ति कर्नाटक का प्रथम तथा सर्वोपरि कवि था। चालुक्यों का एक और वैशिष्ट्य की अपूर्वता की सूची में एक और बात अगर जोडनी हो

तो वह यह है कि उन्होंने पूर्वद-पळगन्नड अर्थात् प्राचीन कन्नड की भाषा तथा साहित्य को जीवनदान दिया।

इस युग की सामाजिक- सांस्कृतिक संरचना, एक विशाल सम्राज्य के प्रादेशिक स्तर के छोटे राजाओं की शासनप्रणाली, तथा उनके सेना बल के साथ स्थानीय मातहत आदेश के योद्धा-प्रमुखों के द्वारा चिह्नित की जाती है।

वातापी चालुक्यों ने लोकप्रिय परंपरा के स्थानीय तथा बुनियादी तत्वों की सुरक्षा तथा संरक्षण की जिम्मेदारी उठाने में अपना पूरा सहयोग दिया। उन्होंने तालाब बनवाने तथा गोदान की पद्धति को बहुत ही लोकप्रिय बनाया। शिगाव के पुरालेखों में इस काल में चौदह तालाब बनवाए गए इस बात का उल्लेख मिलता है। जैसा कि कहीं उल्लेखित है कि 300 बेळवोला में अण्णिगेरे, शांतलिगे- शासिर में होम्बुज, गंगावाडी में श्रवणबेळगोळ तथा गडिकेश्वर, मल्लसमुद्र, ऐहोळे, पट्टदकल्ल, बादामी तथा कोपण चालुक्य प्रदेश के सभी स्थानों को प्रमुख जैन केंद्र स्थापित करने तथा उनको पनपने के लिए संरक्षण प्राप्त हुआ। कीर्तिवर्मन, विजयादित्य, विनयादित्य, तथा विक्रमादित्य द्वितीय ने जैनधर्म का ललक के साथ समर्थन किया। राजकुमारी कुंकुम महादेवी तथा उसका पति राजा चित्रवाहन दोनों उदारभावना के थे।

सच है कि कदंबों ने जैनधर्म को एक शाही प्रतिष्ठा तथा गरिमा प्रदान की। हालांकि, इसे उचित ही कह सकते हैं कि बादामी के सम्राटों ने जैन धर्म की राजनीतिक प्रभावपूर्णता को न केवल बढ़ाया है बल्कि उसके सामाजिक पैमाने में उसकी कुलीनता को संवर्धित किया। जैनों की सामाजिक - सांस्कृतिक तथा कलागत क्रियाकलापों में उनकी भागीदारी की गहराई तथा आयाम तथा उनकी निरंतर सहभागिता को रिकार्ड किए गए साक्ष्यों से दृढता से तथा यथोचित रूप से निर्मित किया गया जिसका गंभीरता से विचार करना चाहिए।

सनातन नीति तथा चालुक्य शासकों की भागीदारी ऐसी थी कि प्रदेश में कहीं भी, किसी भी प्रकार का उपद्रव या अशांति की घटनाएँ घटित नहीं हुईं। अपने युग के रंग में अच्छी तरह से रंगे चालुक्य राजाओं ने अपने युग के आदेशों का विश्वास के साथ अनुकरण किया। वे अपनी वचन बद्धता के प्रति गौरवान्वित थे। शासकों की सक्रिय भागीदारी के कारण जैनधर्म चालुक्य समाज में काफी गहरी जड़े जमा चुका था।

जैन मुनि अपने सद्गुणों तथा विद्वत्ता के लिए जाने जाते हैं और उन्होंने जैन संघ के खिलने के लिए मधुमक्खी की तरह काम किया। शाही परिवार, शिष्टवर्ग तथा सामान्य लोगों पर उनका प्रभाव उल्लेखनीय है।

अबतक जैनधर्म दृढता से स्थापित हो गया था। आदिकदंबों ने उसे अपना पूरा सहयोग दिया। इस वाद ने स्पष्टता से चैत्यवासी, चरित्र तथा रंग को ले लिया। बनवासियों कदंबों ने तो जैन मत में अपने विश्वास की उद्घोषणा की थी।

यसमिन जिनेन्द्रपूजा प्रवर्तते
तत्र तत्र देश परिवृद्धिहि
नगराणां निर्भयता तद्देश
स्वामिना चोर्जा। (नमो नमः)

(CKI:No. 24, C, 5 = ई.स. Halasi Plates)

जहाँ जहाँ जिनेन्द्र की पूजा होती रहेगी देश में समृद्धि होती रहेगी। नगर भयमुक्त होंगे, और उन देशों के स्वामी बल अर्जित करते रहेंगे।

चालुक्यों के शासनकाल के दौरान, जैनधर्म ने प्रभुत्व प्राप्त किया और शहर सकेन्द्रण से ग्रामों तक दृढता से फैल गया। इस काल की कई जैन तथा उससे संबंधित मंदिरों की प्रतिमाएँ विविध जैन मंदिरों में देखी गईं। प्रगतिशील एकात्मता द्वारा कला तथा शिल्पकला को जो आकार तथा रूप दिया गया वह उनके पूर्ववर्तियों की उपलब्धियाँ हैं।

भारत के सांस्कृतिक वैभव में जैन शिल्पकला तथा इतिहास का योगदान विचारणीय है साथ ही उसका क्रमानुसार अध्ययन करना भी ज़रूरी है। हाथों द्वारा बनाए गए शिल्प तथा पेंटिंग आदि ने जिन तथा अन्य प्रशंसनीय देवताओं के लिए बनाए गए विशाल स्मारकों की शोभा बढ़ाई। जैन कला तथा साहित्य ने बादामी चालुक्यों के काल में एक ठोस आकार ग्रहण किया। उसका क्षेत्र विशाल, उसका सौंदर्य आकर्षणीय तथा उसका अध्ययन ज्ञानवर्धक है। अगर संक्षेप में कहना हो तो यह काल जैन वास्तुकला का मुक़मल खजाना है।

प्रबुद्ध चालुक्यों के शासन काल के दौरान वास्तुकलागत गतिशीलता अपने उच्च शिखर पर थी। पुरालेखों में प्रसंगानुसार सभी मतों तथा संप्रदायों के कई मंदिरों के निर्माण का उल्लेख किया गया है। कुछ पुरालेख तो एक कदम आगे जाकर

इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि शाही घरानों के सदस्य धर्मनिरपेक्ष थे। कला या वास्तुकला के क्षेत्र में उनकी श्रेष्ठता उल्लेखनीय है। साम्राज्य के केंद्रीय शहर ऐहोळे, बादामी तथा किसुवोळाल में बने चानों तथा पथरिले प्रार्थनागृह धर्म तथा वास्तुकला के प्रति अपना समर्पण ही प्रमाणित करते हैं।

वास्तव में एलोरा का चान में बना मंदिर, जो कि राष्ट्रकूटों का विशाल स्मारक है, चालुक्यों के बादामी में बने मंदिर की प्रेरणा से ही बना है। यह स्थान इसलिए भी महत्वपूर्ण है कारण यहाँ तीन भारतीय संप्रदाय ब्राह्मण, बौद्ध तथा निर्ग्रथों का संगम हुआ।

ऐहोळे जैन गुफा, मीन बसदी दोनों एकांत स्थानों पर स्थित हैं। प्राचीन स्मारक होने के कारण इन पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। यह एक अद्भुत उत्खनन है, जाहिर है कि अनंत पूर्वविवेक और धैर्य के साथ, एक ठोस मध्यम-बड़ी चट्टान, सुनियोजित और कुशलता से गढ़े एक मास्टर शिल्पकार की कृति है। चट्टानों में बने मंदिर जिनके केंद्र में एक बड़ा सा दालान है जहाँ दरवाजे के मार्ग से पहुँचा जा सकता है, जिसके आगे चट्टान में एक कोठरी है। उसकी शैली एक साथ मौलिक तथा जीवंत है। चट्टानगत वास्तुकला परिपक्व है और जिसे नवीनता से चिह्नित किया गया है और अगर कोई उसके विकास के कोई पडाव है भी तो उनको अनुरेखित नहीं किया जा सकता है। संभव है कि इस एक मंजिला चट्टान में बने मंदिर ने दो मंजिला खंडगिरि तथा उदयगिरी की गुफा से प्रेरणा ली हो। असाधारणता का ज्वलंत और उत्साह का उदाहरण मानी जानेवाली ऐहोळे चट्टान की मूर्तिकला की पराकाष्ठा एलोरा में दिखाई देती है, जहाँ महान शिल्पकारों का तकनीकी कौशल तथा कलात्मक उत्कृष्टता अच्छी तरह से देखी जा सकती है।

चार गुफाओं की श्रृंखला में (एक से चार नंबर) अंतिम तथा चौथी गुफा जो बादामी पर्वतपृष्ठ के उत्तरी सिरे पर है, वह पूर्वमध्यकाल की जैन शिल्पकला तथा स्थापत्यकला के अध्ययन में अत्यंत महत्वपूर्ण है। चट्टानों को काटकर बनाए गए मंदिर विशेष रूप से दिग्बर अन्वय के हैं जो छठी सदी के अंतिम दो दशकों के हो सकते हैं। (एलोरा की जैन गुफाओं के दो सौ वर्ष पूर्व।)

गुणवत्ता तथा संख्या की दृष्टि से इस युग की कला तथा शिल्पकला को एकमात्र जैनों का योगदान एकल तथा पर्याप्त है। संक्षेप में, तत्कालीन जैन आकाशिय चित्रमाला की चमक दमक हमेशा प्रेरित करती है, हमें सासंरिकता से परे ले जाती

है। जैन परंपरा की बौद्धिक तथा सांसारिक भव्यता तथा दार्शनिक समृद्धि केवल परिश्रमी अनुशासप्रिय मुनियों तथा भक्त भक्तिनों तक ही सीमित नहीं थी। इसका प्रभाव जो अनुशासन की अन्य शाखाओं पर पड़ा उस पर विचार होना आवश्यक है। विशेषतः कला तथा स्थापत्यकला का क्षेत्र सौंदर्य शिल्प की कौशल पूर्णता के साथ काफी फूला फला और जैन स्मारकों की अत्यंत अमूल्य निधि इसी युग से आयी। इस युग में कुछ विशाल स्मारक जो देवताओं तथा अन्य प्रशंसनीय देवताओं के लिए बनवाए गए थे वे मूर्तिकला की बारिकियों का तोशाखाना (खजाना) है। जैन विद्वता को उच्च शिखर पर पहुँचाने के लिए साहित्य का भी कम योगदान नहीं है। यहाँ तक कि एक विहंगम दृष्टि ही जैन स्थापत्य कला के परिदृश्य की कहानी बयान करने में पर्याप्त है। इस पुस्तक में उसकी नज़ाकत तथा चुने हुए चित्र प्रस्तुत किए गए हैं।

ऐहोळे का मेगुडी मंदिर जिसे पुलकेशि के विद्वान कवि ने सी ई 634-35 में बनवाया था वातापी चालुक्यों का सबसे प्राचीन मंदिर है और अगर उसके शासनकाल में बादामी तथा ऐहोळे में कुछ मंदिर में बनवाए भी गए हो या निश्चित ही बनवाए गए होंगे पर हमारे पास इसका कोई पुरालेखिय साक्ष्य नहीं है जिससे हम उनकी पहचान कर सके। बादामी, पट्टदकल, ऐहोळे तथा आलमपुर जैसे महत्वपूर्ण केंद्रों के सभी चालुक्य मंदिर की राष्ट्रकूटों तथा कल्याण चालुक्यों के शासनकाल में या तो मरम्मत की गई या तो उसमें कुछ जोड़कर उसका नवीनिकरण किया गया, कभी उसके मूल का अनुकरण कर या फिर आधुनिक प्रवृत्ति के अनुसार उसे बनवाया गया, इसप्रकार मूल संरचना में कई तरह के बदलाव आए। (Ramesh K.V: 1984:-97).

मेगुडी, लाडखन, दुर्गा, हुच्चिमल्लिगुडी, ज्योतिर्लिंग तथा गळगनाथ मसूह के मंदिर पुरालेखों में रामलिंगेश्वर तथा चरंतिमठ मंदिर के पुरालेख इस बात का संकेत करते हैं कि मंदिरों के पुरालेखों में खुदवाने की पद्धति इस युग की परंपरा बन गई। एक दुर्लभ संयोग की तरह पुलकेशी द्वितीय की प्राचीन तथा प्रसिद्ध पुरालेख पराशक्ति रविकिर्ति द्वारा रचा गया था जो चालुक्यों के इतिहास के लिए एक उपयोगी आधार बना जो मेगुडी के जिनालय में पाया जाता है।

अंबिका एक महत्वपूर्ण शासनदेवि जो खगोलिय निवास में उसके सिंहासन पर अपने बच्चों के साथ बैठी है, जो कि दक्षिण की सबसे प्राचीन देवी है। राज्य के सुदूर भागों में शैलिंगत घुसपैठ की प्रक्रिया में प्रादेशिक विविधताओं ने अपनी

भूमिका निभाई है। इसी के साथ अन्य दो प्रसिद्ध यक्षीयाँ ज्वालामालिनी तथा पद्मावती का पदार्पण भी उल्लेखनीय है। इसीप्रकार श्याम धरणेन्द्र तथा सर्वाह्व यक्ष भी इसी काल में आते हैं। मूर्ति-भंजन संबंधी निर्धारित प्रतिमापरक मानदंड के साथ सौंदर्यगत उत्कृष्टता अपने चरम शिखर पर पहुँची थी जिसका सीधा प्रभाव परवर्ति जैनों का (अभिघटन कला) प्लास्टिक कला पर पड़ा था, जो कि समृद्ध तथा शानदार शिल्प कौशल का प्रमाण तथा चालुक्यों के युग की कलात्मक प्रतिभा ही है। कला के इतिहास में एक नया अध्याय खोलकर जैनों के शिल्पकार तथा उत्कृष्ट शिल्पकला कौशल तथा शासनदेवता एक नए युग के प्रारंभ को ही दर्शाते हैं जिससे विदेशी घटकों को सम्मिलित करने तथा स्वदेशी संवेदना को व्यक्त करने का अवसर मिला।

बिजवाड की नटुंबा बसदी वेंगी चालुक्यों का शाही मंदिर (पट्ट जिनालय) था। इतिहासकारों की स्थापना है कि जैनों का आगमन तथा उनकी सफलता ई.पू. चौथी तथा तीसरी सदी से प्रारंभ हुई। खारवेल, कलिंग का सम्राट (ई.पू. दूसरी सदी) तथा जैनधर्मनिष्ठ, ने तटीय प्रदेश ओरिसा से आंध्र तक जैनधर्म को लोकप्रिय बनाया। इसी के साथ साथ बादामी चालुक्यों ने इस धर्म का प्रचार प्रसार किया तथा उसे और मजबूत बनाया। फिर जैनधर्म ने पूर्वी चालुक्यों के शासनकाल के दौरान में प्रगति की। अनेकांतमत को बढ़ावा देने का श्रेय पूर्वी चालुक्यों को जाता है जिनमें से कुछ प्रोत्साहन तथा अनुनय से जैन बने थे। राजा विष्णुवर्धन तृतीय की रानी अय्यण महादेवी ने शक 684 में मुसिनिकुंड का बिजवाड में स्थित जैन मंदिर नटुंब बसदी का नविनीकरण, संधान्वय तथा कवरूरि गण के गुरु कालिभद्राचार्य द्वारा किया । (Saletore-251)

छत सजावट

छत पर बने शिल्प की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं जो तत्कालिन युग की सामान्य तथा प्रिय विषय के अनुरूप हैं। इसी के साथ सजावटी मूर्तिकला कुछ ऐसी विशेषताओं को भी दर्शाती हैं जो विशेषरूप से उस क्षेत्र से संबंधित है जहाँ उस मंदिर का उत्खनन किया गया हो या बनवाया गया हो।

ऐहोळे की मीना बसदी में आयताकार वीथिका की छत जो जमीन की सतह से 10.43 ड 2.63 मीटर, ऊँची ऊपर है, समकालीन युग के लोकप्रिय आकृतियों से अलंकृत है। यह छतें मुख्य रूप से फूलों तथा अन्य सजावटी कला से अलंकृत

है। एक सुंदर आयाताकार चौखट के केंद्र में तीन पंखुडियों की पंक्तियों से युक्त विशाल खिला कमल है और जिसके चारों कोनों में चार कमलपदक भी हैं। फूलों का डिजाइन, मछलियों की जोड़ी, मकर तथा अन्य शुभ वस्तुओं की बुनावट कमल के फूलों के बीच के स्थान को आच्छादित करते हैं। केंद्रीय कमल के मध्य भाग की किनार में गुलाब की नक्काशी है। परवर्ति युग में डिजाइन संरचना में अभिघटनात्मकता (प्लास्टिसिटी) की कमी रही। ऐहोळे जैन गुफा के द्वारमण्डप की छत में पवित्र स्वस्तिक को खुदवाया गया था।

जैन स्मारक तथा मूर्तियों की क्रमानुसार सारणी-

1. आडूरु - जिनेंद्रभवन- ई.स. 700
2. ऐहोळे जैनगुफा- 580
जिनेंद्र भवन (मेगुडी) 634-35
दो छोटी गुफाएँ- सातवीं सदी का पूर्वार्ध
अंबिका की प्रतिमा-635
ज्वालामालिनी तथा श्याम यक्ष- प्रतिमा सातवीं सदी का उत्तरार्ध
3. अण्णिगेरी- (अण्णिगेरे) चेदिया- 751-52
4. बादामी- जैन गुफा-590-95
5. बेजवाड (आधुनिक विजयवाडा) नेडुंबिवसति सातवीं सदी-पूर्वार्ध
6. भाल्कि-तीर्थंकर प्रतिमा- आठवीं सदी का मध्य
अंबिका प्रतिमा- आठवीं सदी का पूर्वार्ध
7. गडि केशवार- अर्हत पार्श्व- सातवीं सदी का पूर्वार्ध
8. कैल्लिपुसूरु- जिनालय-सातवीं सदी का मध्य
9. किरुव केरे-(करटगेरि), शांतिभागवत- 600
10. किसुवोळल (पट्टदकल्ल)- जिनभवन- ई.स. 560
11. मल्लसमुद्र- जिन पार्श्व-लगभग सातवीं सदी
12. नंदगिरि- जिनालय- ई.स. 750
13. पोंबुच- (हुमचा) बोगार बसदी- आठवीं सदी का पूर्वार्ध
14. पुलिगेरे- आणेसेज्जेय बसदी- सातवीं सदी
धवल जिनालय- सातवीं सदी का पूर्वार्ध

- मोक्षर बसदी- सातवीं सदी का पूर्वार्ध
 शंखवसति- छठी सदी का उत्तरार्ध
15. तलकाडु- पार्श्व प्रतिमा- सातवीं सदी
 (इस युग के जैन केंद्रों की सूची)
 आडूरु (गंगी पांडियुर)
 ऐहोळे (आड़- होले, आर्यपोलल)
 अण्णिगेरे (सं. अन्यतटाक)
 आसंदिलूर-आसंघलुर(आसंदिहळ्ळि)
 बादामी (वातापी)
 बनवासी (बनवसे, वनवासी, वैजयंतिपुरा))
 बस्तिपुर (कोळ्ळेगाल)
 बिजवाड- आंध्र
 गडिकेशवर- गुलबर्गा जिला.
 कळ्ळवप्पु (सं. कटवप्प, श्रवणबेळगोळ)
 केल्लंगेरे
 केल्लिपुसूर (केलसूरु जिला चामराजनगर))
 किरुवट्टगेरे, (करटगेरी)
 किसुवोळल (सं. रक्तपुर, पट्टदकल्ल, पट्टदकिसुवोलल)
 कोपणनगर (कोपणाद्री, कोप्पळ्ळ)
 मल्लसमुद्र (बळ्ळगेरे)
 नरसिंहराजपुर (सिंहनगदे)
 पलसिगे (सं. पलासिका, आधुनिक हलसी)
 परलूरु (आधुनिक हळ्ळरु) बागलकोट जिला
 पुलिगेरे (लक्ष्मेश्वर)
 पुन्नाडु (पुन्नाट)
 पौबुरचा (होबुजा, हुमचा)

अण्णिगेरे एक महत्वपूर्ण नगर तथा चालुक्यों के काल से ही बेळवोल 300 की राजधानी थी और राजधानी के रूप में ही जाना जाता था और होयसला के शासनकाल तक वह राजधानी का शहर ही बना रहा। अण्णिगेरे, जगह का कन्नड नाम है, जिसका संस्कृत रूप था अन्यतटाक, जो निश्चित ही मिथ्या नाम है।

पुरालेख के साथ साथ 751-52 के आसपास का सबसे प्राचीन रिकार्ड में चेदिया ? जैन मंदिर के निर्माण का उल्लेख है, जिसे जेबुलगिरि के प्रमुख व्यक्ति कलियम्मा द्वारा निर्माण किया गया था, जाहिर है कि वह अण्णिगेरे शहर का एक भाग था। अभिलेखों में राजा कीर्तिवर्म सत्याश्रय के छठे शासनकाल का उल्लेख है। जिस स्तंभ पर यह पुरालेख खुदवाया गया है आज वह बनशंकरी मंदिर के सामने है, जैन मंदिर से संबंधित है। छोटे स्तम्भ के तीन चेहरे पर जो पुरालेख खुदवाए गए हैं, आगे कौंडुशुलर कुप्प (उपनाम कीर्तिवर्म गोसासी) द्वारा बनवाए गए मूर्ति के सामने स्थापित किया गया है जोकि जाहिर है कलियम्मा के गुरु थे।

पल्लव राजा महेन्द्रवर्मन प्रथम (600-30) युद्ध और शांति में एक जैसे महान थे, शैवमत में जाने से पूर्व जैन थे, बादामी जैन गुफा से प्रेरित थे, उन्होंने मंडगपट्ट में ऐसे ही बनवाने का प्रयोग किया और सित्तनवाशल में जैन गुफा बनाने की शुरुवात की जो बाद में पंड्यों द्वारा अलंकृत की गई। ऐहोळे गुफाओं की वास्तुकला पल्लवों, पंड्यों तमिलनाडु के चोळों तथा शाही राष्ट्रकूटों के लिए योग्य मॉडल साबित हुई।

दक्षिण में सातवीं तथा नौवीं सदी के मध्य चट्टानों में बनी गुफाएँ तथा विशाल पत्थर कुशल शिल्पकारों के लक्ष्य थे और ये शिल्पकार ऊपर उल्लेखित शाही साम्राज्यों के आश्रित थे।

व्युत्पत्ति

चालुक्यों के नाम में विविधता है, जैसे चळकि, चळुकि, चाळिक्य, चालुक्य, तथा अळुक्य जिसमें अंतिम नाम में प्रथम व्यंजन गायब है। चालुक्यों का अर्थ तथा व्युत्पत्ति रहस्यपूर्ण ही बनी रही। इतिहासकारों ने इस समस्या के समाधान के लिए कई प्रकार के सुझाव दिए हैं और विविध व्युत्पत्तियाँ भी दी हैं। व्युत्पत्ति की दुर्दशा इसी धूरी पर घूमति है कि चालुक्य, चलूक्य यह शब्द किसी द्रविड मूल के व्यक्ति, वर्ग, जाति, वस्तु का है। इ.उ. की तीसरी सदी के नागार्जुनकोंड के पुरालेख में खंदचलिकि नाम का व्यक्ति आता है किंतु उसका चालुक्यों के साथ किसी भी प्रकार का कोई संबंध नहीं है। तथापि, इस नाम पर विचार होना भी आवश्यक है। अलौकिक मूल, पौराणिक कहानियाँ तथा किवदतियाँ केवल अतिपवित्र मूल के साथ शाही घरानों का निवेश करने के लिए गढी गई।

पटोलेमे (Ptolemy- C150 ई.स.) ने अपनी पुस्तक अ Guide to Geography में पहली बार बादामी का उल्लेख Badiamaioi से किया था। तथापि, राजा पुलकेशी प्रथम (सी.ई 543) के पुरालेख में वातापी का उल्लेख संस्कृत में किया गया है। कहीं कहीं कुछ पुरालेखों में बादामी का बादामी तथा बादामी के रूप में भी उल्लेख मिलता है। हालाँकि लेखक बादामि का प्रयोग योग्य मानता है फिर भी वह बादामी तथा वातापी का इस्तेमाल कर सबके साथ जाना चाहता है।

पुरालेखों में अन्य जो भिन्नताएँ दिखाई देती हैं वे हैं— चलिक्य, चलुक्य, चलुकिन, चलुकि, चळिक, चुळकि, चाळु तथा चलुक्या संभवतः जेम्स बर्गर (1874) तथा हेन्री कजिन्स (1926) ने राजवंश का नाम इण्णन्व्ह्य इसप्रकार लिखकर प्रचलित किया हो। इसकी व्युत्पत्ति बताते समय इसका संबंध सल्लिकि (बेळवल) नामक वनस्पति के साथ भी जोड़ने का प्रयास किया गया था, जो उस क्षेत्र में पायी जाती थी। मैं यह कहने का साहस करना हूँ कि चाहता यह प्रदेश बेळवोला विषय या बेळवोला प्रदेश के नाम से जाना जाता है इसका कारण है यहाँ की यह सल्लिकि या बेळवल वनस्पति। अतः चलुक्य तथा चालुक्य शब्द की व्युत्पत्ति तथा उसका संबंध सल्लिकी से करना उचित होगा। इसलिए चालुक्य का अर्थ है सल्लिक वृक्ष जहाँ होते है उस प्रदेश के लोग। अतः बिलकुल स्पष्ट है कि चालुक्य भारतीय परिवार है और उनके नाम का संबंध सल्लिकि से है।

जिन विद्वानों, इतिहासकारों तथा लेखकों ने चालुक्यों पर पुस्तकें, लेखादि लेखे हैं उनमें से कुछ इस राजवंश को पश्चिमी चालुक्य मानते हैं तो कुछ बादामी या वातापी के चालुक्य मानते हैं। चालुक्य शब्द का भिन्न भिन्न प्रकार से भी प्रयोग किया गया दिखाई देता है जैसे छलुक्य, छालुक्य, चलुक्य, चालुक्य आदि। कवि रविकीर्ति ने इस राजवंश का उल्लेख चालुक्यन्वय के रूप में किया है अतः इसको मानक माना जाना चाहिए। व्यक्तिगत नाम पुलकेशी के भी कई भिन्न रूप पुरालेखों में मिलते हैं, जैसे— पोलेकेशि, पोलकेशि, पोलिकेशि, पोलेकेसि, पुलिकेशि, पुलकेशि, पुलेकेशि आदि। चालुक्य का राजकवि, मंत्री, सेनाध्यक्ष रविकीर्ति ने अपने अधिपति के लिए पोलकेशि शब्द का प्रयोग किया। चामराज जिले के केरेहळिळ पुरालेख (शक 827) में संस्कृत भाषा में स्पष्ट रूप से लिखा है कि, चलुक्यवंशज महा नृपति (उड़. लळ (ढ) चामराजनगर 354. पृ. 230 ,पंक्ति 47) परवर्ति चालुक्यों का दरबारी कवि नागवर्म ने (1042) (तथा कई पुस्तकों का लेखक) काव्यावलोकन में पोलकेसिवल्लभ की वीरगाथा को दर्शाते हुए एक पद लिखा है।

इसीप्रकार के समान्य लोगों के कुछ समान नाम जैसे, पोलुकेशि, पोलेअब्बे, पोलेअम्मास पोलेयण्ण तथा होलेयम्मा आदि पूर्वि मध्यकाल के पुरालेख में मिलते हैं।

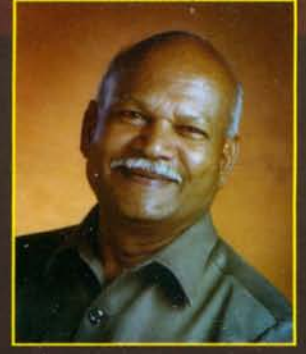
राजा महाराजाओं के व्यक्तिगत नामों पर विचार करते हुए इस पुस्तक के लेखक ने पोलेकेशि शब्द का ही प्रयोग किया है, जो कि रविकीर्ति तथा नागवर्म तथा शक 827 के पुरालेख में अपनाया गया था।

इस पुस्तक के लेखक ने अपने पूर्व के विद्वानों से सर्वसम्मत होते हुए पहेली को सुलझाने के लिए प्रामाणिक प्रयास किया है और अपने प्रबंध को भाषावैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत किया है। चालुक्य यह शब्द चलुकि तथा सलुकि कन्नड संज्ञा का संस्कृत रूपांतरण है जिसके भिन्न रूप है, चलकि या सलकि, जिसका अर्थ है, लोहदंड या छोटी कुदालि ?एक कृषि साधन या औजार।

जाहिर है कि चालुक्य शब्द कहीं भी संस्कृत से संबंधित नहीं दिखता। इस राजवंश के संस्थापक को इस औजार पर नामित किया गया होगा और उसके साथ आदरसूचक अप्पा प्रत्यय जोड़ दिया गया होगा। व्यक्तिगत नाम जैसे सलेकेप्पा, गुद्लेप्पा आदि कन्नड भाषी लोगों में आम है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो प्रारंभ में चालुक्य कृषक थे बाद में धीरे धीरे वे शासक परिवार के ऊँचे स्तर पर पहुँच गए। अतः वे अप्रवासी नहीं थे। इसके विपरित वे कर्नाटक के निवासी तथा भारतीय ही थे। व्यक्तिगत नाम जैसे बिट्टरस, पूगवर्म, पोलकिशि तथा उपाधियाँ जैसे, नोडुत्ता गेल्वोम (देखते ही जीत लेना) प्रियगळ्ळा (प्रिय का) आदि उनका कन्नड भाषा तथा कर्नाटक से संबंध निश्चित करते हैं। पुलिगेरे स्थान का नाम संस्कृत रूपांतरण पुलिकारा (नगर) के रूप में किया गया। उदाहरण स्वरूप, पोलकेशिन का संस्कृत रूप है पुलिकेशिन। पोला- होला , केसिन (कृषक) इन दो शब्दों को मिलाकर पोलकेसिन शब्द बना जिसका अर्थ है कृषक, किसान। पुरालेखों का सूक्ष्मता से निरीक्षण करने पर यह बात सामने आती है कि पुलिकेशिन यह शब्द संस्कृत अभिलेखों में प्रारंभिक उक्ति के रूप में आता है और पोलकेशिन कन्नड अभिलेखों में प्रवेश पा लेता है।

इसीप्रकार, मेगुटि मेगुडी का मिथ्यानाम है, लेखक मेगुडी शब्द का ही निरंतर प्रयोग करता आ रहा है।

BĀHUBALI AND BĀDĀMI CALUKYAS



NĀGARĀJAIĀH
HAMPA

यह पुस्तक चालुक्य युग के कुछ अछूते दृश्य तथा कुछ निष्कर्ष प्रस्तुत करती है। जैन धर्म के सूक्ष्म स्तरीय चित्र नए दृश्य खोलते हैं। शिलालेखिय तथा संपोषक साहित्यिक डाटा के आधार पर जैन धर्म का सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा शिल्पगत स्थान तथा स्थिति निर्धारित करने वाली अपनी तरह की यह पहली तथा व्यवस्थित पुस्तक है। इस पुस्तक में जैन संघ को पूरा विस्तार मिला है एवं प्रधानता प्राप्त हुई है।



अनुवाद

प्रो. प्रतिभा मुदलियार



ANCIENT CAVE, BADAMI